

# KARIKAVAI

BY

VISHVANATHA PANCHANAN

WITH

*A New Commentary*

*Bhāṣya Prakasha,*

BY

PANDBI GANESH DATTĀ SHASTRI,

Professor, Oriental College, Lahore

Can be had from—LALA MOTI LAL,  
Proprietor, Punjab Sanskrit Book Dep't, Lahore

## कारिकावली

विश्वनाथ पञ्चनन विरचिता

दिन्योट वसतय गोमामिनर्द्यलहमणदत्तमनुशीमनातन  
धर्मोपदेश क प्राच्य विभविद्यालय, धय, पक पंगांगेश्वर त  
गास्त्रिरचितरहस्यपकागव्याख्याइलंकाना मे श्रम  
पठ दर्गनतत्वगम्भीताव्याख्याहमहागयानीमुपदेशोऽतीगाप  
कारिका

इसके सब अधिकार यन्यकर्ता के स्वाधीन हैं।

सम्बत् १९६५। सन् १९०८।

पुस्तक मिलनेका पता:—लाला भीसीलाल  
मालिक पञ्जाब संस्कार पुस्तकालय लाहोर।

All Rights Reserved.

Printed at the Punjab Economical Press, Lahore  
1908

S. N.

LIBRARY

## भूमिका ।

राधाहृष्ण इति रुद्यातः पितामह पदं दधत् ।  
 धृति च मादि युक्तवात् साक्षाहर्मता मियात् ॥  
 धर्मोपदेष्ट्वौरेयः दर्यनीयस्समासदाम् ।  
 पिता सद्मर्यदत्तो मे भाननीयो महात्मगाम् ॥

सर्व सज्जनों को सेवा में सविनय निवेदन है कि इस कारिकावली की नृत्य भाषा टीका में बहुत से अपर्यं विषय इसमें दिखाए हैं जिनका संचेप यह है कि जैसे १ ईश्वर सृष्टि वर्धी करता है, २ सर्व दर्यनी के पदार्थ, ३ पद्मदर्यन की एकता, ४ वेद ईश्वर ने ही रखे हैं इसमें युक्ति हारा सिद्धान्त, ५ सकल शास्त्रों की मुक्ति, ६ सकल मात्राच में जीव व्वरूप ७ द्रव्यत्वादि जातिसिद्धिप्रदण्डपत्र, ८ आदि और विशेष यह है कि जो २ इसमें पदार्थ भरिए उनकी दूसरे भूतों से संबंध आदि भी प्राप्त; दिखला दी गई है सकल पदार्थोंके स्वचरण सरलत में दिखलाए हैं इसमें विशेष पदार्थों को देखना हो तो मेरे बनाए सर्व दर्शन तत्त्व मार्त्तरण और व्याहयान रत्नमहोदधि में देखो संशोधन में भी बहुत परिचय किया परन्तु शीघ्रता के कारण तथा मेरी मति और हठिट दोष से अवशिष्ट अगुहियों का गुणधारक स्वरूप संशोधन करते और इसका प्रचार करें यही मेरो धार २ क्षताम्बज्जि होकर प्राप्तकी सेवा में प्राप्तिना है।

निवेदक—कामीरथराजकीयपाठशालाध्यापक के० सी०

आई० श्री ६ गुरुगड्डाधर शास्त्रिय शिष्य

गणेशादत्तशास्त्री ।



३०

श्रीगणेशायनमः ।

नृतनजलधररुचये गोपवधूटी दुकूल चौराय ।  
तस्मैकृष्णायनमः संसारमहीरुहस्य वीजाय ॥१॥

नामं नामं घनश्यामं लगड्जन्मादिकारणम् ।

प्रकुञ्चि कारिकावद्या निगूढायैपकायनम् ॥१॥

श्री गुरुभ्यो नमः ।

परम ऋषायुक्त विश्वशाय पञ्चानन जीने वैशेषिक न्याय  
इत्थ तत्त्व को संचेप से कारिकार्यप में प्रकट करने हेतु अपने  
राम विषयपन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये मिष्टाद्वित  
मङ्गल को आचरण करके पन्थ के प्रारम्भ में शिष्य गिरा के  
ये उप्रेष्ठ किया है नृतनेति नवीन मेघों की न्याईं शोभायुक्त  
पालों की युष्टी दिव्यों के वहतों के इरण्य करने वाले संसार  
प्रवृत्त के बोज अर्थात् निमित्त कारण सकल संसार प्रसिद्ध  
कृष्ण देव को नमस्कार ही इम इलोक में परमात्मा की अद्यौपी  
र्ण रहित इत्थ होने ये प्रत्यक्ष विषयत्व बन नहीं भक्ता शब्द  
पाण (बेठ) ईरथरीक्ष होने में प्रामाण्य साम करमात्र है जब  
ही ईरवा सिंह न होगा तत्त्व वेदवामाण्य नहीं बोगा अतः  
जपद में परमात्मा की प्रभा अनुमान से होती है सुचित यह

\* मङ्गलत्वस्त्र विद्वनोत्सारणासाधारणकारणत्वे सति साध्य  
म् प्राचीननवोनयोर्मङ्गलेमतमेदः प्राचीनास्तु ऋमाप्तिमप्ति  
लाय कारणत्वे स्वीकुर्वन्ति नव्यास्तु विद्वन्त्रसमप्रस्थेव समा-  
स्तु द्युदि प्रतिसादिकारणकलापत एवे तिवदन्ति ।

किया तथाच चिति अहुरादिकर्तृजन्य हैं कार्य होने से घट की न्याई हम में से कोई कर्ता बन नहीं सकता जो कर्ता है वही ईश्वर जब कार्य लिङ्गकानुग्रान से ईश्वर मिहि हुई तो पश्चात् परमात्मोक्त वेद भी प्रमाण होकर अयोमर हुआ तथाहि 'द्यावा भूमी जनयन् देह एक आसते विश्वयकर्ता नुवनायगोप्ता' द्युसोक और भूकोक की कर्ता और समात स्सर का पालक परमात्मा एक है। (शं०) ईश्वर अनेक मानने से बधा दोष है (उ०) विश्व इच्छा में जगन्निर्माण न होगा एक ईश्वर कहेगा जगन्नन्तन दूसरा कहेगा नहीं प्राचीन रहे जिसकी इच्छा पर्ण न होगी वही ईश्वर नहीं कहावेगा इसनिये ईश्वर एक है ॥ १ ॥

• द्रव्यं गुणस्तथाकर्म सामान्यं स विशेषकम् ।  
समवायस्तथा भावः ॥ यदार्थाः सप्तकीर्तिताः ॥ २ ॥

द्रव्य गुण तैसे कर्म सामान्य (जाति) और विवेय समवाय और अभाव यह सप्त पदार्थ वैशिक शास्त्र सम्मत है यद्यपि प्राचीन अन्यीं में भाव अभाव भेद से दो प्रकार के पदार्थ लिखे हैं और समान तत्त्व में अर्थात् न्याय में प्रमाणादि भेद से थोड़ा पदार्थ लिखे हैं तथा मीमांसा शास्त्र में उस २ पदार्थ की गति को जैसे बन्दिमें दाहानुकूल मामण्डे ऐसे ही साहशयको भी भिन्न माना है तथापि इन्हीं सप्त पदार्थों में ही सर्व का अन्तर्भूत ही जाता है अतः न्यूनता नहि है ॥ शं० प्रेज्ञावत्प्रवृत्त्यङ्ग होने से दन्त्य के प्राप्तमें १ अनुवन्धचतुष्टय का निष्पत्ति करना आवश्यक था

\* पद लन्ध प्रतीति विषयत्व द्रव्यादि सप्ताकान्यतमत्वं वा पदार्थत्वम् ।

\* प्रहत्युपयोगि ज्ञानजनक ज्ञान विषयत्व इनुवन्धचतुष्टयत्वम् ।

उसके बिना कहे पन्थ प्रारम्भ उचित नहि (उ०) पदार्थादेश से हि  
 अनुवन्ध चतुष्टय अर्थातः कह दिया है जैसे द्रव्यादि पदार्थ विषय  
 द्रव्यादि पदार्थ तत्त्वात् रण प्रयोजन एतत्त्वं वधारणेचक्रावाग्  
 अधिकारी और प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है (श०) उदय  
 से द्रव्य काही नाम पूर्व वर्धी किया वर्धी न गुणादि में से किसी  
 दूसरे का (उ०) द्रव्य ही अपवर्ग भागी है द्रव्य ही रर्बका अवयव है  
 अतः इसीका प्रथम पद्धति किया (श०) द्रव्य किसको कहने है (उ०)  
 गुणवत्वाधि करण को अवश्य द्रव्यत्व जाति वाले को द्रव्य कहते हैं  
 (श०) पूर्व को वर्धी लोडते ही (उ०) न्याय में द्रव्य उत्पत्ति घण में  
 निर्गुण ही उत्पन्न होता है इस निये उत्पत्ति घण में द्रव्य में गुण  
 वत्व लक्षण न जान से अव्याप्ति रूप लक्षण दोप लगेगा जब द्रव्य  
 तत्त्वजाति को लक्षण माना तो अव्याप्ति इट गर वर्तीकि द्रव्यत्व  
जाति उत्पत्ति घण के द्रव्य से भी है अनिव्याप्ति अव्याप्ति और  
और असम्भव इन तीन दूदणी से रहित धर्म को लक्षणक्रयन करते  
हैं जिस का लक्षण करना इष्ट ही उसे नहि कहो जो लक्षण  
नहि वह अलद्य अलद्य में लक्षण जानेको अति व्याप्ति फड़  
ते हैं जैसे गौ का लक्षण गुणित किया तो गुणित अलद्य महिलो  
में भी जाता है अतिव्याप्ति देय हुआ दूसरा गौ का नील रूप  
वत्व लक्षण किया वह पीत गौ म नहि जाता परन्तु सर्व गौ लक्ष्य  
है अतः एस देय लक्ष्य के पीत में न रहने में अव्याप्ति हर्द और  
असम्भव वह है जो लक्ष्य के किसी एक देश में भी नहीं जैसे गौका  
एकाग्रवत्व लक्षण किया तो यह गौ मात्र में नहि रहता अपितु  
रासभादि में रहता है अतः तीनों दोषों से गून्य गौ का लक्षण  
गुणसामान्यवत्व यह है ।

श्रित्यप्तेजोमस्योमरुलादिवदेहिनोमनः ।  
 द्रव्याण्यथगुणारूपंसोगन्धस्ततः परं ॥ ३ ॥

स्पर्शः संख्या परिमितिः पृथक्कञ्चततः परम् ।  
 संयोगश्च विभाग इच परञ्चापरत्वकम् ॥ ४ ॥  
 बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छाद्वेषो यत्नो गुरुत्वकम् ।  
 द्रष्ट्यत्वं स्नेहसंस्कारवृप्तं शब्दएव च ॥ ५ ॥

चितोति, चिति, पृथिवी, अप्, जल, तेजः, वन्ध्नादि, महत्, पायु, व्योम, आकाश, काल, समय, दिक् दिशा, देही, आत्मा, मन, यह नव द्रव्य हैं (अं०) यदि देही से आत्मा की पहचान करते ही तो कैषल जीवात्मा का ही होगा वर्णकि जीव का हो शरीर होता है परमात्मा का नहि (उ०) भूतावेश न्यायसे यही लोकों के कर्मों से परमात्मा का भी देह यास्त्र सम्मत है, यद्यपि मीमांसकतम को नवद्रव्यातिरिक्त द्रव्य मानते हैं और युक्ति भी होते हैं कि यह प्रसिद्ध द्रव्यों से विरुद्ध धर्मों वाला है तुष्टि द्रव्य पृथिवी जल तेजः यह सर्वे आलोक सह शत नेत्र से गृहीत होते हैं और यह तो निरपेक्ष से ही गृहीत होता है और नीलतम चलता है इस प्रतीति से रुप वाला और क्रिया वाला होने से भी द्रव्य स्वरूप इस में घटित होता है तथापि प्रौढ प्रकाशक तेजः सामान्याभाव ही को तम मानने में लाभ नहै और घस्ति प्रतीति भी भ्रमरूप है (अं०) तसोमावही तेज मानले तो वथा दानि है (उ०) उद्भूतस्पर्शके आशय का वाध प्राप्त होगा वह अनिष्ट है। अयेति रुपसंगन्धस्पर्शं मंस्त्रा परिमाण पृथक्कञ्च संयोगविभाग परत्व औः

गुणवत्वं द्रव्यत्वजातिमत्वं वा द्रव्यस्य लक्षणम् ।

२ द्रव्यकर्मावतिजातिमत्वं गुणसामान्यलक्षणम् ॥

गुणत्वजातिसिद्धिस्तु द्रव्यकर्म भिन्न सामान्यवति या कारणता सा किञ्चिद्भर्मावच्छिक्नाकारणतात् दर्ढ-हतिकारणता ॥

परमात्म बुद्धि (ज्ञान) सुखु दुःख इच्छा हेष प्रयत्न गुह्यत्व द्रव्यस्व  
रने ह (चिकित्सा) संखार और धर्म और अधर्म ये २४ गुण हैं इन्हीं  
गुणों में से सप्तदशकों तो कणादजी ने कणठ से मूत्र में ही पढ़ा  
है और आगे चकार पठकर सप्तका समुच्चय किया है (गं०) लघु  
त्वसदत्व कठिनत्व भी और गण हैं तो ३४ कैसे (उ०) लघुत्व  
गुह्यत्वाभाव रूप ही है और सृष्टित्व कठिनत्व भी अवश्य संयोग  
विशेष ही है अतः आधिवद्य शड्का व्यर्थ है ॥ ५ ॥

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षे पणमाकुञ्जनंतथा ।

प्रसारणञ्जगमनं ॥कर्मण्येतानि पञ्चच ॥६॥

उत्क्षेपणे तिउत्क्षेपणउर्द्देश संयोगहेतुकर्म अपक्षेपण अधोदेश  
संयोग हेतु आकुञ्जन अङ्गकौटिल्य गंपादककर्म प्रसारण कहजुता  
सम्पादककर्म गमन उत्तरदेश संयोगजनककर्मये—पञ्चविधकमें हैं  
यह कर्म यह कर्म इस अनुगत प्रत्यय से कर्मत्वजाति तो प्रत्यक्ष  
सिद्ध है ॥ ६ ॥

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ढञ्जलनमेवच तिर्यग्  
गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥७ ॥

भ्रमणे ति भ्रमण चववर रेचन तिलकना स्यन्दन प्रथयण  
आर्द्ध ऊबलन बन्धकर्म तिर्यग् गमनतिरष्टाचसनासर्पादिकिया, ये  
सर्व गमन के ही अन्तर्गत होते हैं अतः अधिक नहीं । (गं०)  
उत्क्षेपणादिभी गमन में आसले हैं तो किर उनको पृथक् वर्थो  
निष्ठा (उ०) मुनिकी इवतन्त्रेचक्षा है इस में प्रणए नहीं होता है ।

\* संयोग भिन्नत्वेसति संयोगासमविकारणत्वम् कर्मत्वम्

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेवच ।  
 द्रव्यादि त्रिकृतिस्तु + सत्तापरतयोच्यते ॥७॥  
 परमित्ता चयाजातिः ॥ सैवापरतयोच्यते ।  
 द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ ९ ॥  
 व्यापकत्वात्परापिस्याद्रव्याद्यत्वादपरापिच ॥

मामान्येति च मान्य (जाति) हो एकपर चर्यात् ,  
 अधिक देग में रहने वाली दूसरा चर्पर चर्यात् न्यून में चर्तने  
 वाली द्रव्यादि तीनों में रहने वाली जाति सत्ता है और वहीं परा  
 भी कहाती है जिसके होने से ही द्रव्यं मत् गुणः सन् कर्मसत् यह  
 प्रयोग होता है भिन्न चर्नेक व्यक्तियों में एक प्रकार का वोध  
 जनक पदार्थ जाति होती है इसी जाति को बोह नहीं मानते  
 वर्धीकि यह नित्य पदार्थ है नित्य उसको कहते हैं जिस का न  
 तो कभी प्राप्तमात्र और नाहीं धूम वहीं ऐसा पदार्थ आकाश है

\* सत्ताद्रव्यादिषु विषु केवल मनुगतप्रस्त्ययज्जनयति न तु व्या-  
 द्वृत्तिमपि चतुःसामान्यमेवैच्यते द्रव्यत्वादिकस्तु व्याद्यत्यनुगते  
 त्युभ्यप्रत्ययीत्प्रादकत्वेन सामान्यविगेवो भयरूपम् न यासत्  
 महायवहारस्य सावृत्तिकर्त्तव्यसत्तान जातिरपितुभावत्वमिति ।

† नित्यत्वे सत्यनेक समदेतत्वं जाते लंकणम् ।

‡ जातिःखलु व्यक्ति मन्त्रराना वतिष्ठते इतो जातिव्यहश्चोर्नित्य  
 महावन्ध स एव समवाय पदेनोच्यते शं० सकलमावकार्यव्यवस्थो -  
 महापलथ इत्युक्तस्त्राण्ड्वानमहापलथ तत्र समस्तव्यह्नि -  
 नागञ्जात्यवस्थानं ववेति चेन्नमहापलथात्तद्वीकारादितरथा ।  
 भाव कार्यान्तः पातिल्वाददृष्टानामपि तन्नाशेखदृष्टव्यनुदय  
 प्रसङ्गः स्थान्नद्वि वीज प्रयोजनाभ्यां विनोत्पत्तिरिति नव्याः ।

और थोड़ तो पदार्थमात्र को स्थिति (हितीय चतुर्धर्म प्रतियोगी) मानते हैं उनके मत में कोई भी नित्य नहीं अतः अपने मत में जातिरूप भेदक धर्म को न रहने में गोत्व धर्म में जो गी का अरव से भेद मिह छोता है गोत्व की अतदृश्याभिति रूप मान कर निर्वाह किया है तत् पद से गोत्व धरा उसकी व्याहति नाम भेद अरवपर रहा फिर भेद का अभाव गी पर आया इस तरह गी अरव से भिन्न मिह हुई गी यह प्रकल्प ठीक नहीं खाड़न प्रक्रिया में यन्य इट्टने का भय है अतः विराम करते हैं ॥ ८ ॥

पर भिन्न जो जाति वही अपर कहाती है द्रष्टव्य आदि पद में गुणत्वादि पर और अपर कहाती है ॥ ८ ॥ व्यापक होने से अर्थात् अधिक देश में बर्तने में पर और द्रष्टव्य होने से अल्प देश में रहने में अपर जैसे द्रष्टव्य पृथिवीत्र अपेक्षा से अधिक देश अर्थात् नव द्रष्टव्यों में रहने में तो पर और सत्ता की अपेक्षा अन्यनदेश में रहने से अपर भी हैं दर्शीकि सत्ता द्रष्टव्य से अतिरिक्त गुण और कर्म में भी रहती है ।

“अन्त्यो नित्यद्रष्टव्यवृत्तिर्विशेषः १० परिकीर्तिः ॥ १०

विशेष का निरूपण करते हैं अन्त्येति अन्त में जो हो उत्ते अन्त्य कहते हैं अन्त को साक्षेप होने से किस का अन्त कन्यना का अन्त अर्थात् घटादि पदार्थों का इण्डा पर्यन्त अपने २ अरेयव भेद में भेद मिह छोता है परमाणुओं के अवयव नहीं हैं अतः पृथिवी

क्र विगेष्मलक्षण्यन्तु सामान्यगृन्यत्वेसति सामान्यमित्तगत्वेच  
सति समवेतत्वम् स्वनो व्यावत्कृत्य वा । नव्यन्नैवायिका भट्टकौमिल  
प्रभाकरादयस्तु विगेष्मलोरसीकृवन्ति विगेष्मणा यथैव स्ववृत्तिधर्मं  
विनेव व्यावृत्तवं । तथैव नित्यद्रष्टव्याणामपि तत्रिये पापेष्मणमिति

परमाणु से जलीय परमाणु का भेद सिव करने के लिये विशेष की कल्पना की जोकि नित्य द्रव्यों से रहते हैं और अनन्त हैं जिनका दमरा कोई भेदक धर्म नहीं है वह स्वतः ही व्याहस रथरूप है अतएव उनमें विशेषत्व धर्म की जाति नहीं माना नहीं तो विशेष के रथरूप की हानि होगी अतः विशेष में विशेषत्व उपाधि है जाति भिन्न धर्म को उपाधि कहा है यथापि परमाणुओं में इमारों प्रत्यक्ष विषयता ही नहीं तो भेद दबद्वार की अपेक्षा ही कैसे तथापि योगियों की तुल्याकृति परमाणुओं में और मुक्तात्मायों तथा मन आदि से से एव प्रथं यह प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी अं० केवल योगजपर्म माहात्म्य से ही माने सो कथा होगा, ऐसा नहीं होता अशुक्ल से शुक्ल प्रत्यय होगा तो भ्रम ही मिल होगा प्रमा नहि ॥ १० ॥

**घटादीनांकपालादौद्रृष्टेषुगुणकर्मणोः ।**

**तेषुजातेश्चसत्रन्धःसमवायःप्रकौर्तितः॥११॥**

अवधिवियों का अवयवों में गुण और कर्मों का द्रव्यों में और द्रव्य गुण कर्मों में जाति का चकार से नित्य द्रव्य और विशेषों का जो सम्बन्ध वह समवाय कहाता है यह

१ नित्यत्वेसति सम्बन्ध भिन्नत्वे च मति सम्बन्धत्वं समवायत्वम् नित्यत्वमात्रेत्तावाकाशादावति प्रमत्तिः रथात्तदर्थं संबन्धत्वं सुपास्तं सम्बन्धत्वं समधायत्वं मित्युक्तौ न्योगादावति प्रसङ्गोमाभूदिति नित्यत्वघहर्षं तावसापिरवरूप सम्बन्धेऽतित्याप्ति सर्यात् रथरूप सम्बन्धानामानन्त्येनाकाशादिरथरूपसम्बन्धनान्तित्यत्वमेवारित तदर्थं सम्बन्ध भिन्नत्वोपादानं रथरूपसम्बन्धरूप च सम्बन्धित रूपरूपेन तद्भिन्नत्वाभाव इति नाति अप्याप्तिः ।

सम्बन्ध नित्य और एक न्याय और वैयिकिक शासद सिंह है परम्परा  
 कारण कारण के परस्पर इह कपालयोधंट। इन कपालों में घट है  
 इस प्रात्यचिकी प्रतीतिगम्य समवाय है यह नैयाविक मानते  
 हैं और समवाय अन्तीन्दिय अनुसेद्यवैशेषिक मत है अनुमान  
 (प०)गुण क्रियादि से युक्त बोध विशेषण विशेष्य और उन के  
 परस्पर सम्बन्ध विषयक है विशिष्ट बोध हीने से दण्डी पुरुष  
 इस विशिष्ट बोध की न्याई विशिष्ट बोध प्रकृतमें हुआ नील घट  
 यहां पर नील विशेषण घट विशेष्य जो इसका सबन्ध होगा स्वरूप  
 सम्बन्ध मानने में गोरव होगा सयोग के बल द्रव्यों का ही होता  
 है और अन्य सम्बन्ध के बाध में अतिरिक्त नित्य एक समवाय  
 सम्बन्ध की सिद्धि हुई (श०) समवाय के एक मानने में जो समवाय  
 रूपका है वही तो स्पर्श का है तो वायु रूपवान ऐसा ज्ञान होना  
 चाहिये क्योंकि वायु में भी रूप समवाय है समवाय की एक हीने  
 से (व०) सम्बन्ध मत्ता ही केवल विशिष्ट बोध में नियामक नहि  
 प्रत्युत सम्बन्ध सम्बन्ध दोनों की सत्तानियामक हैं तो वायु में  
 यथपि रूप समवाय है भी तथापि रूप प्रति योगिक समवाय नहीं  
 अर्थात् रूपके न होनेसे रूपवान् वायु यह ज्ञान नहि होता वायुमें  
 स्पर्श प्रति योगिक समवाय है अतः रूपवान् वायु यही ज्ञान होता  
 है कारणभाव से ही समवाय नित्य है यदि इसका भी कोई सम-  
 वायिकारण मानें तो उसमें समवाय का समवाय रहेगा तो अन-  
 वस्था सम्बन्ध की पड़ी अतः यह नित्य है ॥ ११ ॥

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः ।

प्रतियोगिज्ञानाधीन-ज्ञानविषयत्वमभावत्वम् २ भेदेतरा  
 भावत्वं संसर्गाभावत्वम् ।

४ प्रागभावस्तथा ५ वं सोप्यन्त्यन्ता भाव एव च १२  
एवंत्रैविद्यमापन्नः संसर्गभाव इप्यते ।

**टीका**—अभावनिरपेक्षभावस्तिवति संसर्गभाव और अन्योन्या  
भावके भेदसे अभीष दो प्रकार का है प्रागभाव अर्थात् कार्य  
को उत्पत्ति से पर्व अपने कारण में जो कार्य का अभाव उसकी  
प्रागभाव इसो की प्रतियोगीजनक अभाव भी कहते हैं और अपने  
अधिकरण में उत्पत्ति के अनन्तर मुद्दगर पातालि म जायमान  
जो अभाव उसकी छवि कहते हैं इन कपासों में घट नम्ट हुआ  
इस प्रतीति का विषय होता है और वायु में जो रुपाभाव वह  
अत्यन्तभाव है यद्योऽकि वस्तु की तीन काल सत्ता न होने से जो  
निषेधप्रत्यय है वह अत्यन्तभाव को गोचर कर्ता है घट पट का  
जो परस्पर भेद घट पट नहीं है इसी को अन्योन्यभाव कहते  
हैं पर्वात्प्रागभावादि भेद से संसर्गभाव तीन प्रकार का होता  
है । सीमान्तिक अभाव को अधिकरण स्वरूप मानत हैं भूतल में  
घटाभाव भूतल स्वरूप जल में जल स्वरूप इस का खण्डन प्रकार  
यह है कि भूतल में घट नहीं है यह बुद्धि यदि केवल भूतल का  
ही विषय करतो तो घट पश्चि स्थान में भी इस ज्ञान का प्रसंग  
होता कदाचित् कहे केवल भूतल को गोचर करती है तो नहीं

३ तादौत्त्वं सबन्धा उच्छ्रित्वं प्रतियोगिताकाभावत्वं  
मन्योन्यभावत्वम् ४ प्रतियोगिसमवायिकारणहृत्तिप्रतियोगिजनका  
भविष्यतीतिव्यवहारहेतुःप्रागभावः ५ प्रतियोगिसमवायिकारणहृत्तिः  
हृत्तिव्यवहारहेतुः छवि ॥

६ औकालिक संसर्गविच्छिन्न प्रतियोगिताका भावत्वमत्यन्ता  
भावत्वम् ॥

कह सकते अतिरिक्त कैवल्य का रवीकार नहीं है और अमेद में  
अधारा धेयभाव भी नहीं बन सकता और जल में गन्धाभाव  
गन्ध स्वरूप मानने से जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का वहण होता  
है उसमें रहने वाली जाति और उसकी अभाव का भी उसी से  
वहण होता है इस नियम से जल का वहण बालेन्द्रिय में प्राप्त  
होगा परन्तु होता नहीं अधिकरण भिन्न अभाव को मानने से  
नाघव भी होगा अतः अभाव पृथक् पदार्थ है ॥ १२ ॥

**सप्तानामपि साधस्य ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ॥ १३ ॥**

टीका-अब मुक्ति के उपयोगी पदार्थों के साधस्य अर्थात्  
समान धर्म और वैधस्य अर्थात् विहृद धर्मों को कहते हैं सप्ताना  
मित्यादि यन्थ मे वैशेषिक गारच में जो साधस्य वैधस्य पूर्वक  
पदार्थ ज्ञान है उसी को मुक्ति का परम हेतु काहा है निरुत्त सप्त  
पदार्थों का समान धर्म ज्ञेयत्व ज्ञान विषयत्व आदि पद से अभि-  
धेयत्व अभिधा, नाम एवं केत उसमे आद्यत्व है ऐसे ही प्रसेययत्वादि  
भी कहा है अर्थात् सर्व पदार्थ ज्ञानगोचर है जो असमदीय ज्ञान  
विषय नहीं भी तथा परमात्मा के ज्ञानु के विषय तो अवश्य  
ऐ जिसमे ईश्वर सर्वज्ञ है ॥ १३ ॥

\* द्रव्यादि सप्तानामपमेयत्वादिकं समानो धर्मः । द्रव्यादि  
पठ्कस्य भावत्वम् भावत्वैसत्यनेकत्वं समवायित्वञ्च द्रव्यादि  
पञ्चानां शाधस्यम् । एतत्पदञ्चत्यन्तु भावत्वमाचोक्तौ समवायेऽति  
प्रसक्तिः स्यादित्यनेकत्वप्रहणं तावतापिदोदीभावेषतेदितिभावत्व-  
विगेषणम् । समवेत समवेतत्वं द्रव्यादि चतुर्णां साधस्यम् । सत्ताजा-  
त्याशयत्वं द्रव्यगुणकर्मणां समानी धर्मः । कर्माद्वितिजातिमत्यं  
द्रव्यगुणयोः साधस्यम् ।

**द्रव्यादयः पञ्चभावो अनेके समवायिनः ।  
सत्तावन्तस्त्रपस्त्राद्या गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥१४॥  
सामान्यपरिहीनास्तु सर्वेजात्यादयोमताः ।**

टीका—द्रव्यादीति द्रव्य मे लेकर पांचों का भाव होकर अनेक हीना और समवायिहीना समान धर्म है इस प्रकरण में सर्वत्र समान धर्म स्वयं समझ लेना । और आदि को तीन द्रव्य गुण कम्तों का सत्तावत्व अर्थात् सत्ता जाति का आश्रयत्व और गुण से लेकर क्षः पदार्थों का गुण रहितत्व तथा क्रिया रहितत्व साधर्म्य है (य०) एक रूप रस मे पृथक् है इस प्रतीति बत्त से गुण रूप मे भी एकत्व संरक्षा और रमात्रधिक पृथक् गुण सिद्ध ही है तो गुण साधर्म्य निर्गुणत्व के से कहा (८०) एकार्थ समवाय से केवल रूप में संख्या प्रतीति है और साधर्म्यादि प्रकरण में तो समवाय सम्बन्ध से गुणवत्व इष्ट है ॥ १४ ॥

और जाति से लेकर जितने पदार्थ हैं उनका सामान्या नधिकरणरूप साधर्म्य है वर्णोंकि जाति में जाति मनि तो अनवस्था हो ॥

**पारिभाष्डलय भिन्नानां कारणत्वमुदाहृतं ॥ १५ ॥**

टीका—पारिमाण्डलय परमाणु परिमाण तथा हश्चलुक परिमाण से भिन्न पदार्थों का कारणता रूप साधर्म्य है । (य०) कारण के गुणों से कार्य के गुण उत्पन्न होते हैं तो परमाणुओं

---

\*(य०)प्रत्यक्षे विषयस्य कारणत्वाद् योगिज्ञानस्यच परमाणु परिमाणेऽप्यन्याहतत्वात्कथं परमाणुपरिमाणात्व नकारणत्वमिति चेच्छाणु तत्त्वोगीतरप्रत्यक्षे विषयस्य कारणत्वमित्यभि प्रतत्वादि तरयानागतादि बोधोयोगिनामपि दुर्लभोभवेदिति ॥

से उत्पन्न होने वाले हथयुक के तथा हथणुक में उत्पन्न होने वाले हथयुक के परिमाण का उत्पादक परमाणु परिमाण और हथयुक परिमाण ही होगा तब कैसे उनका कारणत्व सा—धर्म्य नहीं (३०) परिमाण का यह नियम है कि अपने सजातीय अपने में उत्कृष्ट परिमाण को हि उत्पन्न करता है जैसे कपालों के महत्परिमाण से घट का कपाल परिमाण को अपेक्षा से उत्कृष्ट उत्पन्न होता है और सजातीय अर्थात् महत् भी है इसी रूपाय में परमाणु परिमाण हथयुक परिमाण का कारण माने तो हथयुक परिमाण से उत्कृष्ट नहीं है क्योंकि यणु की उत्कृष्टता, अधिक अणु होगा है जैसे देवीं से बड़ा देव कीन जो बहुत दयालु हो ऐसा ही रात्रियों में बड़ा रात्रि कीन जो बहुत विरद्य हो ऐसे ही हथयुक परिमाण भी हथयुक परिमाण का सजातीय नहिं है क्योंकि हथयुक का महत् परिमाण है और यदि हथयुक परिमाण से हि इस की उत्पत्ति होती तो इसमें भी अधिक अणु परिमाण आता तब तो हथयुक का प्रत्यक्ष भी न होता क्योंकि वस्त्रमाण पठ्विध प्रत्यक्षमें महत्व कारण है इस कारिका में परिमाणपठ्विध उपलक्षक है जो अपना बोधक हीकर अपने से दूरी की भी बोधक हो उसे उपलक्षक कहते हैं परिमाणपठ्विध ने अणु परिमाण का बोधन किया और परम महत् और परमाणुत्व और विवेद पदार्थ का भी बोधक है अर्थात् यह भी तीन किसी के कारण नहीं (३०) तो फिर हथयुक परिमाण तथा हथयुक परिमाण कहा से उत्पन्न हुआ (३०) परमाणुगत हितव संख्या में हथयुक परिमाण की और हथयुक गत वित्व संख्या में हथयुक परिमाण की उत्पत्ति होती है ॥ १५ ॥

अन्यथा सिद्धिशून्यस्य नियता पूर्व वर्तिता ।

कारणत्वं भवेत्तस्य व्रेविद्यं परकीर्तिम् ॥ १६ ॥  
 समवायि कारणत्वं ज्ञेयमथाप्य समवायि हेतुत्वम् ॥  
 एवं न्यायनयं ज्ञेतृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥ १७ ॥  
 यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयन्तु समवायि जनकं  
 तत् । तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं  
 स्यात् ॥ १८ ॥

टी०—अबकारण स्वरूप कहते हैं अन्यथा मिहि से को  
 रहित हो फार्य की उत्पत्ति इष्य से नियम से पूर्व रहे उसे  
 कारण कहते हैं और वह तीन प्रकार का कहा है ॥ १६ ॥ प्रथम  
 का नाम समवायि दूसरा समवायि तृतीय निमित्त कारण न्याय  
 विज्ञानी ने कहा है ॥ १७ ॥ जिसमें समवाय संबन्ध से कार्य  
 उत्पन्न हो उसे समवायि कारण जानना चाहिये और समवायि  
 कारण में रहनेवाले कारण को असमवायि कारण और इन दोनों  
 से भिन्न कारण को निमित्त कहा है ॥ १८ ॥ कारण विचार संचेप  
 से यह है कि तन्तुओं में पठ समवाय संबन्ध से उत्पन्न होता है  
 इसलिये पठ के समवायि कारण तन्तु हुये परन्तु यावत् तन्तु  
 संयोग न हो तावत् पठ उत्पन्न नहीं होता तन्तु संयोग भी पठ  
 का कारण हुआ और तन्तु संयोग तन्तुओंमें रहता है पठ समवायि

अन्यथा मिहि शून्यत्वे सति कार्यनियत पर्युक्तित्वं कार-  
 णत्वम् समवायि कारण विज्ञित्वे सति कारणत्वम् समवायि कारण-  
 त्वम् उभय भिन्नत्वे सति निमित्तत्वम् कार्यत्वावच्छिन्न कार्यता  
 निष्पित कारणतांशालित्वं साधारण कारणत्वम् ।  
 कार्यत्वं द्याप्य धर्मावच्छिन्नकार्यता निष्पितकारणता शालित्वं ॥  
 मसाधारण कारणत्वम् ।

कारण तन्तुओं में रहने से तन्तु संयोग घट का असमवायि कारण बना और जबतक तन्तुवाय तुरीयेमादि न हो फिर भी घट नहीं बनता अतः यह भी सर्वकारण हुए। परन्तु न तो इनमें समवायि कारण स्वतं घटता है न। हो असमवायिका अतः परिशेष से निमित्त कारण बने अन्यथा सिद्धि कहते हैं जिसके बिना कार्य के स्वरूप सामने कुछ चति न हो उसे अन्यथा सिद्ध कहते हैं तद्वित्ति धर्म को अन्यथा सिद्धि जैसे घटकार्य के लिये रासभ यदि रासभ धारा मही नाभी कुम्भकर लाता अपितु स्वर्य लाता हो, रासभ के बिना भी घट बन गया अतः रासभ अन्यथा सिद्ध और कुलाल कारण है इसी कारण के प्रकारान्त से दो भेद हैं साधार असाधारण जो सर्व का कारण हो वह साधारण होता है जैसे ईश्वरादि तत्त्व का जो कारण हो वह असाधारण जैसे कुलाल घट का।

**येन संहपूर्वभावः कारणमादायवायस्य ।**

**अन्यंप्रतिपूर्वभावे ज्ञातेयत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥१९॥**

**जनकंप्रति पूर्ववर्तितामपरिज्ञायन यस्यगृह्णते ॥**

**अतिकिमथापियन्द्वेनिन्यतावद्यक पूर्वभाविनः २०**

अन्यथा सिद्धिस्तु पूर्वीष्वन्यथासिद्धिपु वर्तमानस्तद्वर्त्ति विशेषः भणिकारस्तु चिविधोऽन्यथा सिद्धिः । नवीनास्तु लघुनियत पूर्ववर्तिन एव कार्य समये तद्विन्नमन्यथा सिद्धम्, इत्यनुगत लघुणेनैक विधमेवान्यथा सिद्धम् । एवं च चिधापन्नचर्षेति प्रकारौ शप्यमतिवेष्यद्यार्थम्, इत्याहुः । इयन्नचान्यथासिद्धिः कारणत्व विवरिका न तु सम्पादिका भवतीति ज्ञेयम् ।

टो०—अन्यथा सिद्धि को कहते हैं येनेति जिस कार्य के प्रति कारण की जिस रूप मे पूर्व वर्तिता हो वह रूप उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है जैसे घट रूप कार्य के प्रति दण्ड दण्डत्व रूप धर्म मे पूर्व वृत्ति हुआ अतः घटप्रति दण्डत्व अन्यथा सिद्ध है द्वितीय कहते हैं अद्यता लिमका केषल अपना अन्वय व्यतिरेकनवने किन्तु अपने कारण के भाष्य अहण हो वह भी अन्यथा सिद्ध है दैसे घट के प्रति दण्ड रूप अब दृतीय कहते हैं अन्य के प्रति प्रथम विद्यमानता जानकर हो जिस की प्रकृत कार्य मे पूर्व वर्तिता मानी जाय वह भी अन्यथा सिद्ध जैसे घटकार्य के प्रति आकाश आकाश की गन्द ममशायि कारणत्वेन सिद्धि होने से शब्द के प्रति पूर्व वृत्तित्व गृहीत ही है फिर घट प्रति पूर्व वृत्तित्वयहण करने मे आकाश की घटकार्य प्रति अन्यथा सिद्धत्व है ॥ १६ ॥

चतुर्थ कहते हैं और जिसकी कार्य उनकजनकत्व रूप मे कार्यके पूर्ववृत्तिता अहण की ही वह भी अन्यथा सिद्ध है जैसे घट के प्रति फुलाल पिता उम को कुलाल पितृ त्वेन अन्यथा सिद्धत्व कुलालत्वेन कारणता माननी मे कोई हानि नहीं पञ्चम कहते हैं जिनका नियम मे जिस २ कार्य के प्रति पूर्ववृत्तित्व है उनसे लोभिन सभी पदार्थ हैं वे अन्यथा सिद्ध हैं घट कार्य के प्रति नियम से पूर्व वर्तित्व दण्डादि की ताङ्गन्मत्व रासभादि मे है अत रासभादि घटकार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध है ॥ २० ॥

एतेपञ्चान्यथा सिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।

घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयम् पिदर्शितम् ॥२१॥

तृतीयन्तु भवेद्योग कुलाल जनकोऽपरः ।

पञ्चमो रासभादिःस्या देतेखावश्यकस्त्वसो ॥२२

टी०—ये पूर्वोऽहा पांच अन्यथा सिद्ध हैं घटादिक कार्यको  
प्रति प्रथम अन्यथा सिद्ध दण्डत्यादिक धर्म है द्वितीय दण्ड  
रूपादि है ॥ २१ ॥ तृतीय आज्ञाय है चतुर्थ कुलाल पिता है  
पञ्चम रासभादि है। इन सर्व में यह पञ्चम अन्यथा सिद्धतो  
आवश्यक है ॥ २२ ॥

**समवायिकारणत्व द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम् ।**  
गुणकर्ममात्रवृत्तिज्ञेयमथाप्य सम्बायिहेतुत्वम् २३  
अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्व मिहेच्यने ।  
**क्षित्यादीनां नवानांतु द्रव्यत्वं गुणयोगिता ॥ २४**

टी०—समवायिकारण होना केवल द्रव्य का ही समान  
धर्म हे असमवायिकारण होना केवल गुणकर्म ही ही समानधर्म  
है यद्यपि आत्मा के विषेष गुण जिनी के भी असमवायिकारण  
नहीं तथापि असमवायिकारणत्व गुणकर्मों से भिन्नी का विशद  
धर्म है अर्थात् असमवायिकारण गुणकर्मों से भिन्न कोई नहीं होगा  
॥ २३ ॥ नित्य द्रव्यों से भिन्नी से आश्रितत्व साधन्य है  
यहा आश्रितत्वपद से समवायादि सतन्ध से रहना रूप अर्थ  
विवित है ऐसे अर्थ में कालिक विषेषण संबन्ध से परमाणुओं

ननु परमाणुनामपि संयोगेनक्ते स्तव्यतिव्याप्ति विति  
चेन्न तत्स्योगस्य द्वृत्यनियामस्त्वात् पतनप्रतिवृत्तकर्मयोगस्येव  
हृति नियामश्वत्वं जन्यग्रन्त्वश्येवं पतन कारणतया तद्भावादेव  
परमाणुः पतना संभेदेनतत्प्रयोगस्य एतम् प्रतिवृत्तकर्म साना  
भवात् अन्यथा वायादि प्रतिवृत्तकर्म उदगाय गुरुत्वेन सव्यां  
परमाणुनामधः पतना पत्तेः ।

के काल में रहने से अतिथाप्त नहीं बरोकि । कालिक संवर्धनाति  
रित मवन्ध से प्राचितस्व अभिवेत होने से अति द्याप्ति और  
अद्याप्ति कहीं भी नहीं । पृथिवी से सेकर मनः पर्यन्तो का  
दद्यस्व ज्ञातिमस्व और गुणवत्य ममान धर्म है ॥ २४ ॥

**क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।**

**परापरत्वं मूर्तत्वकियावेगाश्रया अमीः ॥२५॥**

**कालखात्मदिशांसर्वं गत्वां परमं भहत् ।**

**क्षित्यादि पञ्चं भूनानि चत्वारिसंपर्गवन्ति हि ॥**

**दद्यारम्भस्यनुरुपुं स्यात् ।**

द्रव्यत्वापेचा व्याप्त्यजाति ऐसी जाति इष्टिदोत्थादि होगी वही पृथिव्यादिमात्र में रहेगी तो उत्पत्ति का स्त्रीन घट रूप पृथिवीमें भी रही तो अव्याप्ति छट गई ॥२४॥ काल आकाश आत्मा और दिया इन का सर्वत्व परम महत्परिमाण अव्यत्व समान धर्म है और पृथिव्यादि पाचीका भूतत्व समान धर्म है पृथिवी जल तेज़ (अग्नि) वायु इन चारों का स्पर्शत्व समान धर्म है । २५॥ और पृथिवी तेजजल वायु इन चारों का समशाय समन्वय से अपनेमें द्रव्योत्पादकत्व समान धर्म जानना चाहिए स्मरण रह अव्याप्ति स्थल में सर्वच जाति बढ़ित लक्षण को कार्य में लावो ।

अथाकाश शरीरिणाम् ॥ अव्याप्य वृत्तिक्षणिको विशेष गुण इप्यते ॥ २७ ॥ रूपद्रवत्व प्रत्यक्ष योगिनः प्रथमास्त्रयः ॥ गुरुणाद्वैरसत्तोद्रयोर्नमित्तिकद्रवः ॥ २८ ॥ आत्माना भूतवर्गाश्च विशेष गुणयोगिनः ॥ यदुक्तं यस्य साधस्य वैधस्य मितरस्य तत् ॥ २९ ॥

टीका—आकाश तथा जीवात्मा का अव्याप्य त्वं जीवेष गुणवत्व तथा चक्षिक विशेष गुणवत्व समान धर्म है लक्षण समन्वय प्रकार यह है अपने अधिकरण में जो एक देश में अपना ही अभाव उसका जो प्रतियोगी ऐसा जो विशेष गुणउसका अधिकरण होना और तृतीयलक्षण में होने वाला जो उस उसका जो प्रतियोगी उसकी चक्षिक कहते हैं चक्षिक जो विशेष गुण तद्वत्व समान धर्म है जैसे गरीबावद्वेदेन आत्मा में ज्ञान गुण उत्पन्न होता है परन्तु आत्मा की व्यापक होने से आत्मा तो

हृत्त में भी है वहा पर अर्थात् दृच्छावच्छेदेन आत्मा में ज्ञान नहि होता हो अपने अधिकारण आत्मा में दृच्छावच्छेदेन जो ज्ञान का असाव उसका प्रतियोगि ज्ञान हुआ और वह विशेष गुण भी है तदत्त्व आत्मा में रहा ऐसे ही भरी प्रदेश में आकाश में शब्द उत्पन्न होता है और कुड़यावच्छेद से आकाश में गद्दामाद भी है अतः पूर्वील प्रकार से शब्द भी अव्याप्त्य हस्ति हुआ और विशेष गुण भी है इमलिये आत्मन्त आकाश में भी अव्याप्त्य हात्त विशेष गुणवत्व समान धर्म रह गया और ज्ञान एक लक्षण में उत्पन्न होता है दूसरे में स्थित और तृतीय में नष्ट होता है यह ही दशा शब्द की है अतः इन दोनीं को ज्ञानिक और विशेष गुण होने में ज्ञानिक विशेष गुणत्व दोनों का तुल्य धर्म हुआ ॥ २७ ॥ इपवत्त्व द्रवत्त्ववत्त्व और प्रत्यक्ष विषयत्व पृथिवी, जल, तेज का समान धर्म है जल में तो सामिद्धि द्रवत्त्व है और धृतादि पृथिवी में और चूर्णादि तेज में नैमित्तिक है नैमित्तिक अग्नि सूर्योगादिक है जहा प्रत्यक्ष विषयत्व भर्जन कपालस्थ वाङ्में नहीं है वहां जाति धर्मित लक्षण को कार्य में खायो जहा कट्टमादि में इपवत्त्व की थंका ही वहा पर नैमित्तिक है तुयों से रुप का अनुमान होता है पृथिवी और जल दोनों गुहत्व और रसवत्त्व समान धर्म है और पृथिवी और तेज का नैमित्तिक द्रवत्त्व (पिघनता चूर्णादि पिण्डीभाव डेह) समान धर्म है ॥ २८ ॥ आत्मा और पृथिव्यादि पाच इन का विशेष गुण समान धर्म है जो जिसका समान धर्म कहा है वह दूसरे का विश्व धर्म आमना आहिये संगे पृथिवी जल का समान धर्म रस कहा है वह तेज का विश्व धर्म है । यथोक्ति उसम वह नहिं है ॥ २९ ॥

स्पर्शादियेऽप्त्वायेगार्थ्य संस्कारो मरुत्तोगुणाः ॥

अष्टोऽपशादयोरूपं द्रवोवेगश्च तेजसि ॥ ३० ॥  
 स्पश्चादियः अष्टोवगश्च मुहूर्तं च, द्रवत्वकम् ॥  
 रूपं सस्तथा सनेहा वारिष्येते चतुर्दशा ॥ ३१ ॥  
 सनेहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दशा ॥  
 वुद्धच्छादिपट्कसंख्या दिपञ्चकं भावनातथा ॥ ३२ ॥  
 धर्मधर्मो गुणाएते आत्मनः स्युद्द्वचतुर्दशा ॥  
 संख्यादिपञ्चकं काल दिशोः शब्दद्वच तेचले ॥ ३३ ॥  
 संख्यादयः पञ्चदुद्धिरिच्छायत्नोऽपि चेऽवरे ॥  
 परापरत्वं संख्यादयाः पञ्चवेगश्च मानसे ॥ ३४ ॥

टीका—स्पर्मीत्यादि। स्पर्म में लेकर आठ और वेगनामक संस्कार यह वायु के गुण है और स्पश्चादि आठ रूप द्रवत्व और वेग, ये ११ गुण तेज के हैं ॥ ३० ॥ स्पश्चादि आठ और वेग मुहूर्त द्रवत्व रूप रूप और सनेह यह चतुर्दश गुण जल में रहते हैं ॥ ३१ ॥ और जल के गुणों में से इनैह को त्याग कर और उसके स्थान में गन्ध का प्रवेश कराकर येही चतुर्दश षट्यवी के गुण है धुड़ि से लेकर वह और मंख्या से लेकर पाच और भावना नामक मंकार ॥ ३२ धर्म और धर्म ये चतुर्दश १८ीयात्मा के गुण

१ ज्ञानात्यसाभावरहितत्वमात्मत्वम् आत्मनि परम-  
 त्वश्च मूष्ठि स्थितिस्थय कातृत्वम् । नित्यज्ञानोद्यधिकरणत्वमीश-  
 रत्वम् । केचित्परमात्मनि नित्यसुखमपिमन्यन्ते वात्मतस्तु दुःखा-  
 भाव एवतज्ञानन्दः ।

वेदान्तिनः साह्याद्य भनस्येवेच्छादीन् मन्यन्ते नात्मनि  
 तेषां ज्ञानात्मते, तस्यज्ञानकृपत्यगुह्यत्वयोरभ्युपगमात् ।

हैं संख्या में लेकर पाच काल और दिशा के गुण हैं और संख्यादि पाच और शब्द ये हैं : (२) आकाश के गुण हैं ॥३६॥ संख्या में लेकर पाच बुद्धि (ज्ञान) इच्छा, और यत्न ये आठ गुण परमात्मा में रहते हैं इस स्थल में इतना अवश्य जानो कि जीव में इच्छा ज्ञान प्रयत्न ये अनित्य हैं और परमात्मा<sup>२</sup> के नित्य हैं यदि परमात्मा के भी नित्य न हों तो परमात्मा (३) सृष्टिकर्ता है तो सृष्टि से पूर्व निर्मितरूप शरीरादि के अभाव होने से सृष्टि को उत्पत्ति की इच्छा कैसे होती और उपादानपरमाणुयां का ज्ञान भी कैसे होता अतः ईश्वरेच्छादि नित्य हैं परहैं अपरत्यं च संख्यादि पाच और वेग ये आठ गुण मन के हैं ॥३७॥

**४ तत्रक्षितिर्गन्धहेतुर्नानाहुपवतीमता ।**

**घट्विधस्तुरसस्तत्र गन्धस्तुद्विधोमतः ॥३८॥**

टीका—तत्रेति अवक्षमसे पृथिव्यादिका निरूपण करते हैं उन दृष्टियों के मध्य में पृथिवी गन्धगण का हेतु अर्थात् समवायि कारण है और अनेक शब्द नीलादि रूपावाली है मध्यरादि

(२) वेदान्तिस्तु समस्त भूतदृष्टिं शब्दगुणमुररोक्तुवत् तन्नयं पञ्चोक्तरण प्रक्रियाहोकारात् तद्यथा भूतपञ्चकेऽपि पञ्चतन्मापञ्चन्यत्वं नारस्याकाशस्यापि नित्यता चुतिव्याकोपात् चिह्नत करवाणीति शुतेः तत्रचिह्नतकरणस्य पञ्चोक्तरणोपलक्षकत्वमिति। साप्तया योगिनश्च तयैव मन्यन्ते पृथिव्या चट्चटेति शब्दोवाया सीमीति जले चलु चुल धवनिरम्भोधगधगेति ।

(३) उपादानापरोक्षज्ञान चिकीर्णाक्षिमस्व कर्तृत्वम् ।

१ गन्धवत्वं गन्धं समानाधिकरण दृश्यत्वं व्याध्य जाति भूत्वा पृथिव्या स्वच्छम् तादृशज्ञातिरच्च पृथिवीत्वसेवतश्च उत्पत्तिस्त्वेष्टादी उत्पन्नं विनष्टेच दृश्यप्यत्वोत्तिनाव्याप्तिः ।

मेद से लो; प्रकार का इस भी पृथिवी में है जहाँ में केवल सधर ही रस है जिस स्थान में जल में कट्टा आदि भी इस प्रतीत ही वह उपाधि से पृथिवीका ही जानना और सुरभी अमुरभी मेद से दी प्रकार का गन्ध भी पृथिवीका माना है (गं०) पापाणरूप पृथिवी में गन्ध नहिं है तो गन्ध पृथिवी का सच्चा वहा पर अव्याप्त होगा ।

(उ०) पापाण में भी गन्ध है परन्तु (२) अनुत्कट होने के कारण प्रतीत नहिं होता अन्यथा उसके भूमि (चूना) में गन्ध कही से आता ।

(गं०) भस्म (चूने) में गन्ध होने से पापाण में गन्ध है कैसा जाना जाय ।

(उ०) जो द्रव्य जिसकी नाम से उत्पन्न ही, वह उसी द्रव्य के कारण का कार्य होता है यह नियम है तो भस्म रूप द्रव्य पापाण, रूप द्रव्य के नाम से उत्पन्न हआ है इस वास्ते पापाण के कारण पृथिवी परमाणुओं का ही कार्य है जब पृथिवी परमाणुओं के कार्य भस्म में गन्ध है तो पापाण में गन्ध अवश्य होगा क्योंकि पापाण कारण और तदभस्म कारण एक है ॥ ३५

**स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।**

'टी०—अनुष्णा गीत स्पर्श भी पृथिवी का जानना योग्य है अनुष्णा गीत स्पर्श तो वायु का है परन्तु पाकजनहि जड़ां पटादि में उस स्पर्श नहिं जड़ां जाति घटित जबल में कार्य सेना चाहिये ।

(२) सावेदिकप्रत्यचोविषयीतगन्धवत्वम्-  
नुत्कटगन्धवत्वम् । यत्र ववापिजलेऽपिमौरम्यमानंयाततचादि  
पृथिवी एवगन्धोमन्तव्यः पतोतिस्त्, स्वाशयमयुक्तवमन्धेनाभ्य  
वनेद्या स्वंगन्धः तदाश्यः पृथिवी तत्सयुक्तवेच्च एवमन्यवाप्य  
ज्यवेयम् ।

**नित्याऽनित्याचमादेधा॑ नित्यास्या॒ दणुलक्षणा॑३६  
अनित्यातुतदन्यास्यात् सैवावयवये गिनी ।**

टीका—नित्य और अनित्य भेद से वह पृथिवी हो प्रकार की है उसमें परमाणु स्वरूप पृथिवी तो नित्य है और उससे मिन्न कार्यरूप पृथिवी सर्व ही अनित्य है और वही कार्यरूप ही पृथिवी सावयव भी है, सावयव कहने से यह प्रयोजन है कि वौद्ध परमाणु समदाय को हि घट व्यवहार करते हैं उनके मत में हच्छुकादि क्रम में महावयवी पृथक् नहि उपर्यन्ते होता थतः उनके मत में अहं भ्रष्ट करते हुये कहते हैं कि मैवावयव योगिनी इति अहं भ्रष्ट को वीज यह कि परमाणुओं को अतीन्द्रिय होने से तत्समह घटादि को भी अतीन्द्रियत्व होगा तो घटादि

१ य मन्त्राहपतरमस्ति यः परमोऽहपस्तच निवर्तते ॥ ये॑  
तरचनामधीयोऽस्ति, तं परमाणु प्रचक्षमहे॒” इति । (वाताया०भा०  
४।२।१५।) यथा—जान्मूर्यमरोचिस्यं यत्मूर्द्धमं ह्रयतेरजः ।  
तस्य घटतस्मोभागः परमाणु स उच्चते॒” इति । सचजन्यदव्याद-  
यवः, अतीन्द्रियः, निरवयवः नित्यरचेति नैयायिक वैयेपिक सि-  
ष्टान्तः । च्यामहू वादिनो वीदामन् परमाणु नामप्युत्पादना-  
शब्दच स्वोकुर्वन्ति तस्मिन्द्यनुमानश्च जान्मूर्यमरोचिस्यं मुर्द्धमं  
रजः स उच्चते च जपदव्यत्वात् पटवत् । च्यामुकावयवोऽपि साव-  
यवः भद्राद्यन्तकल्पात् तन्तुवत् सचावयवः परमाणुनित्यः का-  
र्यत्वेऽन्वरप्राप्य इति ।

२ छंसाप्रतिप्रीणित्वेतति प्रागभावप्रति योगित्वं निस्त्यत्वम  
इ छाप्रतिये गित्वं, अनित्यत्वमा आश्वस्यादः कणभवपचः  
मघातवादस्तु दन्तचः । साप्तरादिपचः परिषामशादो वैदान्त  
पच्चस्तु विवरवादः ॥ १॥

का प्रत्यक्ष न होगा क्योंकि प्रत्यक्ष में महत्व को कारणता है किन्तु जब मुद्गरणात से घट नष्ट हुआ तो वो ह मत में कपाल प्रत्यक्ष नहिं हुआ चाहिये क्योंकि उसके मत में परमाणु पुञ्ज से रचित घट है कपालों में नहीं इसी तरह बोध सम्मत सहात शादमें अनेक दोष हैं भूमिक जिखनेसे अन्य बढ़नेकाभयहै इसलिये न्याय वैशेषिक स्वीकृत पारम्पराद्वारा युक्तियुक्त होनेसे पाल्प है ।

**साच्चत्रिधाभवेद्देह मिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ ३७ ॥**

टीका—यह कार्य रूपपृथिवी देह इन्द्रिय और विषय मेंदसे से तीन प्रकार की है ॥ ३७ ॥

**योनिजादि भवेद्देहमिन्द्रियं ध्राण लक्षणम् ।  
विषयो द्रव्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः ॥ ३८ ॥**

१ चेष्टेन्द्रियार्थाययः शरीरम् । न्या० द० ( १ । १ । १ । १ )

अन्त्यावयवित्वेस्ति चेष्टा भीमेन्द्रियार्थत्वं शरीरत्वम् ।

२ गृह्णेतरोऽनुत्-विशेषगुणानाश्यत्वेस्ति ज्ञानकारण मनः संयोगाश्यत्वमिन्द्रियत्वम् । तदथेश्च गृह्णादितरेये उद्भूता विशेष सभ्जिकारच गुणास्तेया मनाश्यत्वेस्ति ज्ञानश्य कारणो भूती यो मनः संयोगः ( इन्द्रियैः समसः संयोगः ) तदाश्यत्वम् ।

तद्वच प्रत्यक्ष प्रभाण मित्युच्यते तस्मिंस्तु ज्ञान क्रिया सक्तरणिका क्रियात्वात् क्रिदक्रियावत् रूपादिपु गन्ध मात्र धाइक त्वमेव तस्य पार्थिवत्वानुभापक मित्येव मन्तव्यमयमेव न्यायोरसमा दीनां जलीयत्वादावनुसन्धिये इति ।

३ साक्षात्परम्परयावोप—भीगमाधनस्वेस्ति जन्य-द्रव्यत्वं

विषयत्वम् ।

ट्री-योनिज, अण्डज और जरायुज भेदसे अयोनिज, स्वेदज और उद्धिङ्ग भेद से दो २ प्रकार के जो शरीर हैं यह सर्व पृथिवी के शरीर हैं (य०) शरीरमें पंचही मूत्रों की प्रतीति होती है तो केवल पृथिवी का हि कैमे कहा (उ०) यथपि पांच ही शरीरमें दृष्ट होते हैं तथापि जिस का प्राधान्य होता है व्यवहार उसी में होता है परन्थधारों केवल निमित्त है और पृथिवी तो असाधारण कारण है अतएव लग्नमें श्रुति भगवती कथन करती है “सूर्यन्तेष्टु गंधशतात् पृथिवीन्ते शरीरम्” प्राण इन्द्रिय भी केवल पृथिवी से ही उत्पन्न हुआ है अतः प्राण इन्द्रिय पृथिवी का है इदपुक से ब्रह्माण्ड पर्यन्त पार्थिव पदार्थ सर्व विषय रूप पृथिवी है निरुत्तम अण्डजादि में अण्डज पञ्ची और सर्पादिकों का शरीर है स्वेदज यूकादि, का और उद्धिङ्ग छुचादिकों का है (य०) छुचादिक भी शरीरी है इसमें क्या प्रमाण है। (उ०) आधातिमक वायु (प्राण) रूप हेतु में अनुमान होता है (य०) उसी में क्या प्रमाण (उ०) छुच के कटने पर फिर कुछ समय के अनन्तर उसी रूपमें दीखता है चैत्र के शरीर की न्याई इस से जानते हैं कि इस में प्राणवायु का सबन्ध है सामान्य ज्ञान होनेसे ग्रन्थयस्पष्ट नहीं होता इसीकी पुष्टि में शब्द प्रमाण है “गुरुं हुं क्लृप्त्य त्वं क्लृप्त्य विमं निर्जित्य वादतः। ग्रन्थाने जायते हृचः कंक गृभ्रेप सेवितः” शरीरहवजाति नहीं है वर्णोंकि पृथिवीत्व के साथ इस का संकर है और संकर जाति वाधक है इन्द्रियत्व भी जाति नहीं है ॥ ३८ ॥

वर्णः शुक्रोरसस्पश्यों जले मधुर शीतलौ ।  
 स्नेहस्तंत्रं द्रवत्वं तु सांसिधिक मुदा हृतम् ॥३९॥  
 नित्यतादि प्रथमवत् किन्तु देह मयो निजम् ।  
 इन्द्रियं रसनं सिन्धु हिमादिर्विषयो मतः ॥ ४० ॥

टी०—भव जल का निष्ठपण करते हैं वर्णति जल में वर्ण शुक्र है रस मधुर है और रप्यं शीतल है स्नह जल मात्र हृति है और द्रवत्व इसमें सांसिधिक है ( श० ) यमुना नदी के जल में कालिमा प्रतीत होती है तो जल में रवेत ही रूप वर्णों कहा ( उ० ) यमुना नदी के आचर्य भूतल में श्वामता है वही जल में प्रतीत होती

१ ग्रीतस्पशसामाधिकरण द्रव्यत्व व्याप्यजातिमत्वं जलस्य  
सत्त्वम् ।

२ ( श० ) जले हरीत की भक्षण व्यङ्ग्य स्तावनमधुर रसः  
प्रत्यपादि तन्न सद्गते जलसंयोगादीत वर्णो मेव माधुर्योत्पत्तिः  
किमिति नाड़ी क्रियेत ( उ० ) पाचर्य हरीत वर्णा मपि जल संयोगेन  
मधु दिमोत्पत्त्यापत्तेः ।

३ ग्रीतं शिलातल मिति प्रत्ययस्तु स्वसमवायि संयोग संब-  
न्धायतः ।

४ जलोयत्वेमति रसद्वजनकत्वं रसनेन्द्रियत्व—मेवमपे  
स्वयम्भूद्यम् ।

५ स्नेहस्तु जल एव धृतादावपि तदुपष्टमभक्त जलस्यैव स्नेहः  
स्नेहोऽधिविधोऽपकष्टः प्रक्षष्टरचेति जलेऽपकष्टो धृतिजले  
प्रक्षष्टः प्रक्षष्टस्य दहनानुकूलत्वम् ।

जनं बायु विशेष एव न तु द्रव्यान्तर मिति इति विद्या  
विषारदाः ।

है भतएव उस जल का आकाश में प्रचेपण करने से श्वेत्य ही  
उपलब्ध होता है ( गं० ) जल में तो कोई भी रस नहीं प्रतीत  
होता तो कैसे कशा सधुर है ( उ० ) उस में घनुत्केट माधुर्य है  
और इरीत की भचण के भनन्तर जल पान करने से उस में  
माधुर्य भी रपष्ट प्रवगत होता है ऐसे ही यह गिला शीतल है  
वा यह जल उद्धर है यह दोनों प्रत्यय भी कम से जल और तेज  
के सुवर्ध प्रत्यक्ष ही जानने योग्य हैं ॥ ३८ ॥

नित्येति जलमें नित्य और अनित्यादि ददददार पर्व अर्थात्  
पृथिवी की न्यारे करने चाहिये केवल पृथिवी से इतना ही भेद  
है कि जल्लीय शरीर अयोनिज है और जल्लीय शरीर द्रवण  
सौक में प्रसिद्ध है और जल से उत्पन्न इन्द्रिय रसना है जिडा  
के अप भाग में रहता है जिस में मधुरादि रस का आन होता है  
सिंधु ( समुद्र ) और हिम ( वर्ष ) आदि सर्व विषय रूप जल  
है ॥ ३९ ॥

स्पर्ण॑ उण्णस्तेजस्स्तु स्याद्रूपं शुक्रभास्वरम् ।  
नैमित्तं रुद्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ ४० ॥

इन्द्रियं नयनं वह्निस्वर्णादिर्विषये मतः ।

टी.—अर तेज को निरुपण करते हैं स्पर्णेति उद्द्य इपर्य  
तेज का है पार तेज का रूप रवेत और प्रकाशक है ( ग० ) अनि-

१ उद्द्य रपर्य वर्त्वं उद्द्या रपर्य समानाधिकरण द्रव्यस्व द्याप्य  
जाति महत्वा तेजो व्यवस्थम् ।

२ धूवर्णस्य तेजत्वे यमदोऽपिप्रसादं ‘परमेश्यस्य प्रवर्भं हिरण्यस्म्’  
३ तेजस्त्वे भवति इप यह जल के निर्द्वयवं तेज सेन्द्रियस्वम् ।

षा, इरित रहनों में तो शुक्ररूप प्रतीति नहीं होता (८०) उनमें पार्यिव भाग के रूप से अभिभव है इस लिये प्रतीति नहीं होती और निमित्त अग्नि संयोग से उत्पन्न होने वाला द्रवत्व तेज में है नित्यानित्य व्यवहार तेज का जल की न्याई जानना चाहिये । (८१) तेज के विषय को कहते हैं तेज का इन्द्रिय नेत्र है और अग्नि स्वर्ण सूर्य चन्द्र विद्युत् प्रभति सर्व विषय रूप तेज है (८२) उद्गुर्स्यग्नि तज का कथन किया है तो चन्द्र में प्रत्युत् शीत उपलब्ध होता है चन्द्रतेज कीमे (८०) ४) चन्द्र किरण गत जलके शीत स्पर्श से अभिभूत है अतः वह शीत स्पर्श तचत्य जलका ही भान होता है । (८०) सुवर्ण भारा है और पीत है इसको तेज वर्णों भाना जाय यह तो दोनों धर्म पृथ्वी के माने हैं (८०) जब सुवर्ण की विना किसी औपचो डालने के गालते हैं तो चाहे कितना ही तीव्र अग्नि संयोग करो परन्तु इसका द्रवत्व नष्ट नहीं होता और पृथिवीका द्रवत्व तो प्रतिवन्दकके विना अग्नि संयोग अधिक होने से नष्ट हो जाता है ऐसी ही दशा जल के द्रवत्व की है तो इस से ज्ञात हुआ कि ऐसे न नाश होने वाले द्रवत्वाधिकरण वायु आदि के वाध होने से तेज ही सद हुया तैजस शरीर सर्व लोक से प्रसिद्ध है परन्तु इतना अवश्य जानना कि यावत् पर्यन्त

(४) चन्द्रस्यतैजमत्वप्रतिपादनन्तु कोवलंप्रौढिवादेन न केवल मध्य पारचात्यविज्ञानविरोधोपितुवेदविरोधोपि तथथा “अद्वित्येनचन्द्रभाभाति” अथाव्यस्यैकोरिशिमश्चन्द्रमस प्रति दीप्यसे सुप्तमणः सूर्यरसिरचन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति । इति निरलाम् । दुर्गचार्योऽपि रपट्टमेव व्याख्याने चन्द्रस्य स्वकीय प्रकाशं निरसतवान् व्यवस्थापितवौरचेन्टौ सूर्यप्रकाशमितिग्नेमुपी-मत्प्रकाएडा एव विदाहुर्वन्तु, इति ॥

तैजस वायवीय और जलीय शरीरों में पार्थिव भाग का उपष्टम्  
( सहारा ) न हो ताकि उपभोग सामर्थ्य नहीं हो सकता भतः  
सर्वच पृथिवी का उपष्टम् मानना याप्त है ॥

अपाकञ्जिनुपणशीतस्पशोस्तुपवनमतः ॥ ४२ ॥

तिर्थग्रगमनवानेपज्यः स्पशादि लिङ्गकः ।

पूर्ववन्नित्यतायुक्तं देहव्याधि त्वगिन्द्रियम् ॥ ४३ ॥

प्राणादिस्तु महावायु पद्यन्ता विषयोमतः ।

टो०—वायु इवरूप कहते हैं अपाकञ्जति अग्नि सधोगसे न होने  
वाला जो भूयम् स्पर्शशर्यत्, न यीत न उपण वह वायु में रहता  
है ॥ ४२ ॥ और यह वायु तिरक्तिनति वाला है रथश अदि घटसे भूति  
कम्पादियोगे ( १ ) अनुभित होता है परन्तु यह वैशेषिक सिद्धान्त है  
प्राचीन है न्याय सिद्धान्त में तो वायुका भी प्रत्यक्ष माना है वायु-  
का भी नित्यतादि-व्यवहार जलवत् जानना वायु गरोर पिशा-  
चादियों का है केवल पाप सहजूत वायवीय परमाणुयोंसे पिशाचीय

१ रूप रहित त्वेसति स्पर्शं रहितत्वं वायुलक्षणम् ।

२ वायवीयत्वे सति स्पर्शं यह जनक मिन्द्रियं त्वगिन्द्रियम् ।

३ वायु सिद्धिप्रयोगस्तु योऽयं विलक्षण स्पर्शोनुभयते सुक्षचिदान्तिः  
स्पर्शत्वात् पृथिव्यादि स्पर्शवत् इतिसामान्यसो दृष्टेन  
स्पर्शात्यवल्बमिहौ सस्पर्शाययोन् पृथिव्यादित्रयात्मकः नोरूपत्वात्  
नाकाशादि पञ्चात्मकः स्पर्शत्वात् इति, इतरवाख्य यहसहजतेन  
( अनुमानेन ) अष्टद्रव्यातिरित्ताद्रव्यसिहिः तत्त्ववायु सज्जिक-  
मिति तथा च सूचं “स्पर्शचत्रायोः” तदर्थं च “सिङ्गम्” इतिथेप-  
चकारादृति घटकम्पाः समुच्चीयन्ते ॥

शरीर की उत्पत्ति है वायु में विशेष इतना है कि इस का इन्द्रिय सक्ति देह में रहता है अतएव सर्व देश से उष्णादि प्रतीति हो सकती हैं परन्तु केयनखादि शरीर नहि है अतएव उनमें इन्द्रिय भी नहि हैं त्वय् चर्मको कहते हैं तथापि चर्म में रहने वाले इन्द्रिय को भी त्वग्निन्द्रिय से व्यवहार लक्षणादारा जानना चाहिये “त्वचिस्थितं इन्द्रियं त्वग्निन्द्रियम्” ऐसा अर्थ करना चाहिये अन्यथा, चर्म को पायित होने से उस में स्पर्श आकृत्व के से होगा ॥ ४२ ॥ प्राणादि वायु स लकर महा वायु पर्यन्त वायु का विषय है यद्यपि प्राण एक ही तथापि स्थान रूपो उपाधि के भेद से भिन्न २ संज्ञा को प्राप्त होता है जोसे प्राण, अपान, समान, व्यान, और उदान, भेद से पञ्च विधि प्राण वायु के भेद होते हैं कई एक देव दक्ष धनञ्जय आदि भेद से पञ्च और भेद सान कर प्राण (४) कोटि चर्मद्वया विशिष्ट कथन करते हैं ॥

४ “उदगारनाग आद्यातः कुर्म उनमीलनेस्मृतः । कुक्कर, कु-  
त्करीज्ञेयोदेवदत्तो विजृम्भणे ॥ न लहातिमृतं चापि सर्वव्यापी ध-  
नञ्जयः”इति,मत्तेपतः काद्यरूप षट्विद्यादि चतुष्टयस्योत्पत्तिवि-  
नाग्रकमः पदश्यते प्राणिनामोगभूतये परमेश्वरस्य सिसूचात्रीयते  
ततोल्लधवृत्तिकाढप्टिशिष्टात्मस्यागात्, दोधूयमानेषु प्रथमतः  
पवन परमाणुपु कर्मेत्पत्तिः, ततो हयीः पवनपरमाएत्रोः चर्मयोगः  
ततो चूषुकीत्पत्तिरिच्छिर्द्युक्तैस्त्वयुक्तमित्येवमये महावायु  
पर्यन्तोहपत्तिर्मन्तव्या इत्येवमन्येषामपिभूताना पुनःप्रलयेचक्षा-  
यामपिक्षामगः परमाणु क्रियोत्पत्ति विभागादि परम्परं महावय  
विपर्यन्तोनाम इति (५०) तत्त्वा वाएतस्मादात्मन आकाशःसम्भूत  
इत्यादि चुताकाकाशपरमाणु प्रभूतयोऽपिसोत्पत्तिकाः शूद्रन्ते चे-  
त्त्वायन्तर्द्धी वायवरमाणुन् (तित्पर्यत्पर्य, ५०) अतिरथ सम्भूत पदश्य

द्यत्तद्यर्थकत्वान्नदोपदत्तरथा आकाशाद्यु रित्यादी धारादो  
 इपर्याथमावप्रसङ्गः स्यात्कारणगुण पूर्वकत्वात्कार्यं गुणान् वेदा-  
 न्तिभिः सृष्टिवावधानामतत्परत्वाभिधानाच्चान्यथा—तात्त्विक  
 प्रपञ्चाद्वाहीकारेऽपतिष्ठान्त, स्यादिति (५०) प्रयोजनमनुहित्यमन्दी  
 ऽपिनप्रवर्तते इतिन्यायात् किमितिखीयप्रयोजनवैधुर्यवतस्तस्य-  
 जगदुत्पत्तिसेति (७०) ननु चोक्तं भोगभूतये (शं०) भोगस्यजीवहृत्तिवेन  
 परमात्म प्रवृत्त्यप्रयोजकत्वात्पुनरपि प्रवृत्त्यभावएव किञ्चप्रवृत्तिः  
 सुखेदुखाभावेषा सम्भवति परेशेचतयोर्नित्य मिदतयापवृत्य भाव  
 प्रसङ्गस्यताटवस्थ्यमेवेतिचेन्न तरयस्वार्थाभावेऽपि कहलया  
 प्रवृत्तिसम्भवात् अज्ञानार्थवनिमग्नान् जीवान् ज्ञानधर्मापदेशे-  
 नोऽपित्यामीतिकारण्यप्रयुक्तएवसूजति (४०) करुणयाप्रवर्तते चे  
 त्सुखिन एवसूजेन्नदुःखिन इति (३०) विचित्रकर्मसाचिद्यस्यैव  
 वैलक्षण्यापादकतयानवैप्रद्यर्थकापक्कलङ्घातकाशःयदा “लोकवस्तु-  
 लीकाकैवल्यम्” इति बादररयणेयसूचार्थंप्रकाशितलोलामादमे  
 वजगन्निर्माणेवैज्ञवेनास्युगम्यमन्तोऽटव्यमित्यनवद्यमखिलम् ।  
 न च परमात्मज्ञानेच्छाकृतीना नित्यतया नित्यमेवजगदुत्पद्येत  
 विनश्येदा किमितिज्ञातुचित्तसर्गादिः शूयते इतिवाच्य स्वभावतो  
 नित्यायाप्रवैच्छायाः तत्त्वकर्मापाधि जनित वैरूप्यसङ्गावाद्य  
 या वस्तुतः स्वच्छस्यापिरफटिकस्यतत्त्वज्ञायाकुसमादिमान्तस्य-  
 क्तवैचिद्यमुपजायते (ग०) परमात्माकर्मसापेचरचेत्प्रवर्तते तत्त्वा  
 त्सञ्चितिनिरपेक्षण्वैप्रस्यमित्यभ्ययापाशारज्जुरिति (८०)  
 सापेक्षत्वेऽपिद्वाष्टस्वव्यवधायकंनभवतीतिन्यायेन नकोऽपि दोषः  
 पदमादधाति यथा कोशाध्यच्छारीकृत्यपारितोयिकस्प्रयच्छन्नपि  
 स्वामीस्वतन्त्रपद नतत्रकोशाध्यच्छस्वातन्त्र्यस्त्रेषु प्रकातेऽप्यवदगत्य  
 मितरथाकर्मयाज्जडत्वैनप्लंदात् वायोगाद्भोगप्रयोजिकसृष्टयनु-  
 दया पत्तेरिति ।

न च सोख्ये मीसांस्थोरीश्वर प्रतिषेधे जागति क्षयन्तरं  
न्नाम तदम्युपभीः प्रज्ञोपर्यमाश्वेषासैङ्गीतु तयोरप्यास्तिका  
सुख्यप्रणेत्रकृत्वेनोपोद्यतमत्वा दितिवाच्य, नहि निर्दोहि निष्ठ-  
निदिन्तु प्रभवत्यपितुचिह्नेय स्तौतीतिन्यायेन “ यत्परः गडः  
सगडार्थ ” तात्पर्यार्थं शब्दस्य प्राभाएयात्कपिलदेवस्यतु  
प्रकृति पुरुष विषेक पुरस्मरमपवगनिष्पत्तावेव क्वेवल तात्पर्य-  
मितीश्वरप्रतिषेधाश तदपमाण्यमपिनदापावह सचतत्तात्पर्य  
विरहे। नोचेत् कथामित्यन्तरागात्मीश्वरात्मा समस्त  
विदत्त्वं विदीयसत्त्वमिदिता विरच्यत यज्ञाप्राणिद्वादेनैवप्रतिष्ठो-  
निश्चेतद्य, कथमन्यथा “ ईश्वरासिदः, सा, ह० अ० १ । ॥३३ सच  
स्थाने ईश्वरामार्दीदिति स्पष्टमेवनादाव्यत, यज्ञवेराग्योत्कटपृ-  
स्पादने एवतात्पर्यमध्यवस्थ यदिनामश्वराऽपि करिचन्नास्ति-  
तर्हि कस्यरागो विधेय इति, अनयधिग्या मामामायाच्यपि अन्तः  
करण शुद्ध साधारण कारणत्यात्कर्मणां कर्म निरूपण एव तात्पर्य-  
मीश्वरमिदधमिष्ठास्तु मर्वयोदामीन्य मेवेत्यलमकाण्डता एड्ये-  
नाधिक जिज्ञामुमितु ब्राह्मण सर्वस्यहितोयभाग मतस्तन्मुक्तिनि-  
रूपणप्रस्ताव आनुष्ठानिकंश्वरमिदिविषय द्रष्टव्य मित्युपरम्यत  
इति दिक् ॥

‘आकाशस्यतुविज्ञेयः शब्दोदेशपि कोगुणः । ४४

टो०—आकाश का कहत है आकाश का शब्द है विषयरूप  
है अर्थात् आकाश में शब्दात्मिक चीर को० विषय गैरि०

१ समवायेन गड़द शुणवृत्त माकाशस्यलक्षणम् । तेनकालिका  
मदनभिन कालेऽवच्छेदकता सवन्धेन भेद्यादीच गड़दसत्त्वेष्यपैतैति  
योगिः ।

हे यदा व्यय होने से ही आकाश की सीढ़ि(२) है वह आकाश एवं  
हे आर विभु है विभु होने से आत्मवत् नित्य है यद्यपि घटा  
आय मठाकाश आदि व्यवहार से आकाशगत् नानात्म की  
प्रतीति होती है तथापि उसको उपाधि छात होनेसे बाह्यिक  
आकाशैवय में दोप नहीं है ॥ ४४ ॥

**इन्द्रियन्तु भवेष्ट्रोत्रमेकः सन्तुपाधितः ।**

**जन्यानांजनकः कालः जगतामाश्रयोमतः ॥४५॥**

टी०—आकाश के शरीर और विषय के अभाव से इन्द्रिय  
को निरूपण करते हैं इन्द्रियमिति, योन इन्द्रिय आकाश का है  
यद्यपि साधव से आकाश एक ही है तथापि उपाधि कार्यशु-  
द्धकुर्यादि के भेदसे भिन्न २ ओष्ठ इवष्ट द्वय होता है । अवकाश  
को कहते हैं जन्यानामिति कार्य साच का साधारण कारण  
काल है वर्णोक्ति कार्य भाच हो स्वर उत्पत्ति में काल की  
भवेत्ता रखता है अन्यथा सर्वदा सर्व वस्तु की उत्पत्ति होनी  
चाहिये और वह काल सर्व पदार्थों का आधार है अर्थात् सर्व ही  
वातु किसी न किसी समय में ही उत्पन्न होती है ॥ ४५ ॥

३ आकाश मिहथनुमानस्व-ग्रहः पृथिव्यादप्टद्रव्यातिरिद्र-  
व्याधितः पर्टद्रव्यानाश्रितस्येति समशयिकारणवस्त्राद् यन्नैव  
तन्मेव यथार्थपमिति न चात्मैवास्तु तदाश्रय इति याद्य तस्यत-  
दाश्रयस्ये चाधिर्यवद्प्राप्तापतः सुखानित्यादि वद्वद्वद्वा  
नहिति प्रतीत्यापत्तेऽत ॥

४ भोग प्रयोगक वर्त्म वैधुर्यं प्रयुक्त वाधिर्यं मेवद्वयेन्द्रि-  
वद्वयेन्द्रियतत्कार्याद्यस्त्वप्रीत्यम् ।

५ प्रतीतादि व्यवहारा साधारण कार्यत्वं काष्ठस्त्रम् ॥

**परापरत्वधी हेतुः-क्षणादिःस्यादुपाधितः ।**

ठी०—परत्व और अपरत्व बुद्धि का हेतु भी कालहो है यह परत्व और अपरत्व यह इस से बड़ा है और वह इस से छोटा है इत्याकारक जानने चाहिये (यहाँ) काल भी लाघव से जब एक मानते हो तो यह (१) वर्तमान (२) भूत, (३) भविष्यत् प्रभूतिव्यव हारकैसा होगा (४०) उपाधि भेदसे ही यह भी सकल व्यवहार सिंह होता है और उपाधि यहाँ पर मृद्यु लियादिं रूप जानना चाहिये इसी आशय से कथन करते हैं कि चण दिन मास वर्षादि सर्व व्यवहार और वर्तमानादि व्यवहार उपाधि से होता है ।

४

**दूरान्तिकादिधीहेतु-रेकानित्यादिगुच्यते ॥४६॥**  
**उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।**

(१) वर्तमानत्व इह शब्दप्रयोगाधिकरणकालघृत्तित्वम् (२) वर्तमानेवं सप्रतियोगित्वं भूतत्वम् (३) वर्तमान प्रागभावप्रतियोगित्वं भविष्यत्वम् । च्येष्ठेऽपरत्वप्रत्ययः कनिछेऽपरत्वप्रत्ययः । सर्वपरत्वापरत्वाणुविद्याधीनः । परत्वापरत्वे च साचमकायिकारण के भावकार्यत्वात् । असमवायिकारणञ्चतयोः काल पिण्ड संयोगएव तदाश्रयकाल इति ।

४ विभूत्वेमतिदैगिक—परत्वापरत्वाममवायिकारण संयोगाच्यत्वादुपाधिरूप दिवत्वम् । दैगिकपरत्वा परत्वेचसासमवायिकारण के भावकार्यत्वात् घटवत् ।

असमवायिकारणञ्च दिक्षुपिण्डसंयोगः तदाश्रयोदिक् ।

\*तथाहि “क्वात्रैकमवधिंतस्मादिदं पूर्वं च परिच्छमम् । इति निर्दि-  
श्यतेय यासादि गितिस्युता” इति । गाविदकास्तु शब्दतम्भाच्यपरिच्छाम  
एवदिक्, इत्यादः ।

टी०—अब दिशा को निरूपण करते हैं दूरान्ति केति पदार्थ में दूर स्था समीप व्यवहार प्रयोजक एक तथा नित्य दिशा पदार्थ कहाता है यहांपर दूरत्व और समीपत्व दिशाकालतः जानने योग्य हैं ऐसे ज्ञान का असाधारण कारण ही दिशा पदार्थ है । ४५३ यही दिशा एक होकर भी उपाधि से ही प्राचोः प्रतीची उदीची अवाची आदि संज्ञा से व्यवहृत होती है जैसे जिस स्थान से जी स्थान उदायाचल की ओर हो वह उस स्थान से प्राचो और इस से उलटा प्रतीची और जी स्थान जहाँ से सुमेष अर्थात् केन्द्र की ओर हो वह स्थान उस से उत्तर ( उदीची ) कहाता है और इस से उलटा दिशण ( अवाचो ) कहाता है ॥

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्टाता, करणं हि सकर्तृकम् । ४७१

शरीरस्य न चैतन्य मृतेषु व्यभिचारतः ।

तथा त्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः । ४७२

भनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ।

टीका—अब अपर्याग भागो, और सर्वं जड़ भएङ्गन जिस के साथात वा परम्परा सम्बन्ध से मुख्य दुःख वा दुःखाभाव ( मुळि ) के थास्ते हैं ताहम आत्म पदार्थको निरूपण करते हैं आत्मेन्द्रियेति आत्मा इन्द्रिय आदि पद से शरीर का स्वामी है अर्थात् जैसे स्वामीके विद्योगमे प्रकृति किसी कार्य में मर्मर्य नहीं हो सकती इस तरह आत्म सम्बन्ध के अभाव होनेमे शरीरादि कृष्ण भी नहीं कर सकते पोछे यह सर्व ही मृतिका के तुन्य छानाते हैं परन्तु मृतिका में मुखदुःख आदि भाव्य कनिष्ठ अनुनित प्रेरणोंकि मृतिका में ज्ञान इवका आदि नहीं बल सकते वर्णोंकि यह जड़ है जो ( २ )

( २ ) चार्याकः ( भावितकः ) अच्युतपतिः चारः सोक संस्तो

चार्दीक शरीरादि में ही आत्म बुद्धि रखते हैं अतएव शरीरादि में  
 भिन्न और आत्म पदार्थ नहीं मानते उनको बोधन करते हैं कि करण  
 सकर्ता का अर्थात् कोईभी करण वा साधन विना चतुरकी महायताके  
 किसी भी कार्य को नहीं कर सकता जैसे कुठार और काष्ठ आदि  
 कितना समय इकट्ठे पड़े रहें तो एक तुण भी नहीं काटा जाता जब  
 कोई चेतन तत्त्व का उठार को इष्टमें लेकर काष्ठपर चलता  
 है उसी समय केदन क्रिया उत्पन्न होती है ऐसे ही चतुर आदि भी  
 करण अधिष्ठाता चेतन के बिना कुछ नहीं कर सकते अतएतद्विभृत  
 चेतन अवश्य वो कर्ता यहै, अथवा-यद्यपि अहं सुखो मैं सुखो हूँ  
 मैं दुखो हूँ इत्यादि प्रत्यय में सुखादि का अहं के साथ सामाना  
 धिकरण अवगाहित होता है तो विगेष गुण सुखादि पुरस्कार से  
 आत्मा का प्रत्यक्ष हो होता है तथापि अहं इत्यादि प्रतीति में  
 स्थात्म भाव का ही यहण होता है मरणाद्यधिकरण व्यहरणतर में  
 पर बुद्धि सुखादि ग्रह पूर्वक प्रत्यक्ष नहीं बन सकता इसलिये बाहा  
 है “करण हि सकर्ता” अर्थात् इस से आत्मा में अनुमान प्रमाण  
 दिखलाया है। चार्दीक पृथिवी, जल, तेज, वायु, रूप भूत चतुष्टय  
 मिलाप से हि एक चेतन्यशक्ति उत्पन्न होती जैसे किकर की छाल  
 और गुड आदि के मिलने ही मैं एक मीदक शक्ति उत्पन्न होती है  
 अतः तादृग शक्ति विगिट शरीर ही आत्मा है और मैं गौर हूँ  
 क्षण हूँ स्थूल हूँ क्षय हूँ इत्यादि प्रतीतिसे भी शरीरही आत्मा  
 मिद होता है। ऐसा कथन करते हैं इस शब्द की निष्पत्ति के लिये  
 लक्ष्यने से कि शरीरस्थेति, शरीर चेतन नहीं होमकरा क्योंकि सूत  
 शरीर में चतुरत्व नहीं मिलता और शरीर का गुण होता तो सूत  
 शरीर में भी ज्ञान दृष्ट नहीं होता क्योंकि शरीर का विशेष गुण यावद

द्रव्य भावी होता है अर्थात् जब तक द्रव्य सत्ता हो तब तक उस की सत्ता होती है जैसे गन्ध जब तक शरीर रहेगा तब तक इसकी सत्ता होगी और यदि शरीर में ही ज्ञान मानें तो पापादि भी इसी में होंगे तो इस शरीर को यहाँ ही द्रव्य होना से जन्मान्तर में निर्निमित्त भूषादि की उत्पत्ति होने से कृत नाश और अकृत प्राप्ति रूप दोष भी लगेगा और क्रमसे का बल तो अवश्य मानना चाहिये अन्यथा भुषादि में वैचित्र्य नहीं बन सकता और मद घलि विषेष गुण नहीं है और कारण परमाणुओंमें ज्ञानके अभाव होनेसे मे तत्कार्य शरीर में ज्ञान कहाँ से होगा यदि उन में भी ज्ञान माने तो तदारक्ष घटादि में भी ज्ञान होना चाहिये और मेरा शरीर है इस प्रतीति में भी शरीर भिन्न आत्मा निह होता है अतएव मे रह्यूँ हूँ इस में अहं अंश का रथस्तव के माय मामानाधिकरण्य भ्रम निह है । (गं०) यदि मेरा शरीर है इस प्रतीति से शरीरातिरित आत्मा निह करते हैं तो यह मेरा आत्मा है इस प्रत्यय से भी आत्मान्तर तुम्ह न्याय से वधी न निह हो (ठ०) अभेद में भी भेद दद्यवहार औपचारिक बनता है जैसे राहु का गिर जब गिरोमान हो तो राहु है तो राहुका गिर कैसे (गं०) इसी न्यायको मेरा शरीर है इस प्रतीति में वधी नहीं वह्य करते (ठ०) युक्तियोंमें जब शरीर में चैतन्य का अभाव निह कर दिया तो ऐसमदीय युक्ति अनुपाइक भाव होने में ही चरितार्थ है । अब इन्द्रियात्मवादी शंका करता है कि अत्म के होने से ही चाच्य प्राप्त होता है एवं तस्स इन्द्रियोंमें भी तज्ज्ञ ज्ञानके होनेमें जिसके होने जिसका होना होता ही वह उम का होता है यतः ज्ञान, इन्द्रियों का ही गुण है । इस का परिण करते हैं । तथात्वस्थिति, इन्द्रियभी आत्मा नहीं होमक्ते वधीविषयहात युक्तिनिह है कि अनुभूत पदार्थोंका ही स्मरण होता है अर्थात् जिस मनुष्य ने जो वाहु देखी हो उसी मनुष्य को उप

वरतु का स्मरण होगा परन्तु जब इन्द्रियों को चेतन माना तो आनादि सभी इन्द्रियों में रहे, फिर रूप का प्रत्यक्ष चक्र में हुआ तो रूप का स्मरण भी चक्र में ही होगा क्योंकि जहा अनुभव है उस का कार्य स्मरण भी वहाँ होगा व्यधिकरणों में कार्य कारण भाव नहीं होता परन्तु जिस पुष्पने भिन्न २ वर्णों के अनेक वरच बना रखे हों फिर दैवात् वह अन्धा होगया, तो उस समय में उस के चक्र यदि हैं तो उसे सर्व पदार्थ दीखने चाहिये यदि नहीं तो रूपों का स्मरण नहीं होना चाहिये इसी अभिप्राय से कहा कि "तथात्व" यदि इन्द्रिय हो चेतन हो तो इन्द्रियों के नाम से स्मरण कैस होगा अर्थात् अनुभवित चक्र नहीं है और इन्द्रियोंके होने से ज्ञान का होना तो इन्द्रियों को करण मात्र होने से होसकता है क्योंकि करणके बिना कोई भी क्रिया मिह नहीं होती यदि इन्द्रिय चेतन होता तो "चक्रुर्जनाति" ही प्रयोग होता "चक्रुपा जानाति" न होता अतः अह काण,, इत्यादि प्रतीति भी श्रीपचारिक ही जाननी चाहिये ॥ ४८ ॥ अब मन आत्म वाद का खण्डन करते हैं। मन आत्म वादी की ऐसी शका है कि इन्द्रिय आत्मा मानने से स्मृति की अनुपत्तिरूप प्रधान दोष दिया है क्योंकि इन्द्रिय अनित्य है लब दित्तात् ही नहीं तो स्मरण किस को हो वा कैसे हो परन्तु मन तो नुम भी नित्य मानते हो फिर उसी को चेतन क्यों न माने इस में स्मरण की अनुपत्ति भी दूर होगई "इस की खण्डनकरते हैं" "मनोऽपीति" अर्थ मनभी चेतन नहीं है यदि मनकीचेतन मानोगे तो ज्ञान सुखदः य आदि का प्रत्यक्ष नहीं होगा और होता तो है य ०) इन के प्रत्यक्ष में क्या वाधक है (३०) एक चण म दो ज्ञान नहीं होते इसलिये मन परमाणु रूप है चेतन मानने पर सुखादिक भी इसी में मानने होंगे तो जैसे परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं तो तड़त रूपादिका भी नहीं है, इसी न्याय से परमाणु रूप मन के

प्रत्यक्ष न होने से उस में रहने वाले मुखादि का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा वर्तीकि प्रत्यक्षमें महस्तको कारणता होती है किंचिंत सकल क्रिया को करण साध्य होने में सुख ज्ञान रूप भी क्रिया की करण की अपेक्षा है तो वास्तव करण की शक्ति उस में न देखना आनंद करण का अनुमान होकर मन की मिहि होती है तो यदि मन ही चेतन (कत्तै) हुआ तो उसको भी करण दूसरे की अपेक्षा होगी ही फिर भी गौरव पड़ा और नाममाचमेंही विवाद रहा वस्तुमेंनहीं ॥

अब प्रकरण में सचेत में योगाचारादि बोहो के मत को भी खुगड़न करनेहैं, योगाचार संक्षिकबोह विज्ञानकीही आत्मा मानते हैं, और उसकी लिपिभी मानते हैं वर्तीकि भाव भाव उसके मत में ध्यानिक (डितीयक्षणवर्द्धम प्रतियोगि) है उस विज्ञान के भी दो भेद हैं एक प्रहति विज्ञान दूसरा अल्प विज्ञान घट पठादि विषयक प्रहति और अह २ इस तरह के स्वरूप वाले को आसाय कहते हैं यह मुदुति दगा में होता है और घट पट सभीही ज्ञानके ही भेदहैं। उसकी खण्डन प्रक्रिया यहहै। कि स्मरण की अनुपत्ति उप दाय से यह भी निर्मुक नहो है वर्तीकि विज्ञात विज्ञान के निष्ट ज्ञान में स्मरण दूसरे काष्ठेमें होगा यदि पूर्व ज्ञान की संस्कार को ही उत्तर ज्ञानमें मकान माने तो मात्रामें अनुभूत पदार्थका भी आभाय वास्तवको स्मरण होना चाहिये और संस्कार भी सो तुम्हारे मत में स्थिर नहि है और जिस मेने कल देखा था वही आज में उसी वस्तु का स्मरण करता हूँ इस अवधित प्रतीति में भी स्थिर नित्य घटमा निह होता है किंवद पूर्व दिनमें एक वस्तु को देखा था आज उसीजे नेमे की इच्छा हुई है यदि स्थिर आत्मा न होता तो समान विषयिष्णी इच्छा फैमे होती ॥ “थव भो जानितक लोह विश्व कहते हैं”कि ज्ञानाकारमें अनुमित होने वाला ध्यानिक वास्तव पदार्थकी आत्मा हे भी यह भी पथ ठोक नहिं है वर्तीकि भ्रत्यघ

प्रमाण सिद्ध घटादिकों का अनुभेद्य कथन भर्ता भयुक्त है ॥ 'वैभा' पिक वौह ज्ञानिक पाद्य - पदार्थ का आत्मा कहते हैं" सो यह भी ठीक नहिं है वर्धीकि "सोऽयघटः" यही यह घट है चर्चिक प्रक्रिया में प्रत्यभिज्ञा नहिं हो सकती आरभी अच्छादण भद्र है यन्थ घटने के भय से नहिं लिखे ॥

सारेय शास्त्र में आत्मा को ज्ञान रूप और शुद्ध माना है हुड़ि में हो सर्व दुःखादि माने है प्रश्नतत्त्व इच्छा भा यहि म मानते हैं वुड़ि का सुखाकार दुःखाकारादि छोकर पुरुष में प्रतिविम्बित होना ही पुरुषी का वन्ध तन्निवृत्ति हो पुरुषी की मृत्ति है सो यह भी सत ठीक नहिं है वर्धीकि वुड़ि की प्रकृति कार्य होने स जड़त्व है और ज्ञान इच्छा कृति इनका परस्पर भासानाधिकारण्य से ही कार्य कारण भाव है अर्थात् जो जानता है वही चाहता है आर वही किर कर्ता है जब पूरुष ज्ञान स्वरूप है तो इच्छादि भी उस में मानते चाहिये ॥

अब वेदान्त को दिखाता है दान्त में एक अहय वद्य ही सत्य वस्तु मानी है तदिन्द्रिय इन्द्रि म सर्ववत् सर्व ही वस्तु वद्य में कलिपत मानी है आर वह वद्य भी ज्ञान रूप है इस मिदान्त को दृढ़ता म अतिय भा प्रमाण रूप म दिखाए हैं सो लेमे "सत्यं ज्ञानमनन्तंवद्य" "तत्त्वमसि" 'अह वद्यास्मि' इत्यादि और भी कथन करत है ॥

खण्डनजबतक वाध मिदि न है तब तक भव्येन प्रतीत गत् की कलिपत कहना न्याय युक्त नहिं है और जब मूल दुःखादि की विद्यव्यष्टता मे जीवी का ही परस्पर भद्र मिदि हो रहा है तो पर मात्मा के माथ अमेद कैसे जाना आम और कल्पना मं अविद्य की कारण ज्ञान से अविद्या शुद्ध से कहा कभी भी मध्यन्दिन वर्ती

सर्वथा में समकी सम्भावना। नहि वन सकती यदि जोव ने करपना  
धी तो जीव भी तो कलिपत है उसको भी किसन की इत्येव अन  
वस्था होगी (४०) प्रत्यक्ष सिद्ध भद्र आत्माभेद चाहक श्रुतिवावद  
संवाधित है वधीकि यह प्रत्यक्ष प्रमाण अति की अपेक्षा स दुर्बल  
है जिससे यह ऋग प्रमाणमय का कारण है लास चन्द्र प्रादगिक  
मान ज्योति' शास्त्र से वाधित होता है। (५०) श्रुतिके अर्थ विद्वार  
से भी अभद नहि सिद्ध होता नाही ज्ञान रूपताही सिद्ध होती है  
तथाहि—“य. सवज्ञः, स सर्ववित्” इस श्रुति में (सर्वज्ञानाति) इस  
व्युत्पत्ति स ज्ञा धातु के आगे कर्ता में ‘क’ प्रत्यय ल आकर वना  
है, तो सर्व शब्द के उत्तर हितोया का अर्थ कमता अर्थात् विषयता  
और सब शब्द का अर्थ सार पदार्थ, ‘ज्ञा’ धातुका अर्थ ज्ञान और  
का प्रत्यय का अर्थ कर्ता और अथयता सशब्द तो सशब्द को आ  
कार्या से ही मतीत हो जाता है तो शब्द वापि यह होताहै समस्त  
पदार्थों क ज्ञान का आधार इस शब्द वीध म प्रत्ययके अर्थ कर्ता  
को छोड़ना युक्ति से सर्वथा विरुद्ध है अत, इस श्रुति की साथ विवेध  
दूर करने के लिये ‘ज्ञान’ पद का अर्थ भी ज्ञानवत् कर्ता उचित  
है और “तत्त्वमसि” श्रुति के पूर्व भी आत्मा तत्त्वमसि ऐसा पाठ  
है अत यहां पर भी अकार का प्रश्लेष अर्थात् अतत्त्वमसि करना  
चाहिय अथवा ज्ञानी को प्रयस्य रूप अर्थ वाद जानना चाहिय  
अथवा अभेद भावना से उपासना करनी चाहिये अत श्रुति का  
अप्रामाण्य भी नहि है और “पृष्ठ ग्रन्थार्थम्” इसका तात्पर्य भी  
उच्चकाटि की उपासक अवरण में ही जानना योग्य है वधी कि  
पृष्ठ प्रभु में यरणा गति तीन प्रकारकी है।

१ में प्रभु का हू, २ प्रभु मेरा है, ३ में प्रभु हू इन में तीतीय  
भेद उत्तम अविकारों के वारते है जो सर्वथा स्वरूपमें मान होकर  
परम आनन्द म सर्व वाच्य पदार्थोंकी भक्षण गया है ऐसे हि ग्रन्थ

स्वरूप में भगव द्वीकार मैं अद्य हुँ ऐसे कथन करता है “एकमेवा॒ द्वितीयं वद्धा॑” इस श्रुति का भी भजातीय द्वितीय के निषेध में ही तात्पर्य है अतः “दासुपर्णोस्युजा सखाया॑” इत्यादि श्रुति से और “उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः” इस सूति से सर्वथा भेद ही जब बोधित है तो फिर अभेद कैसे जाने । इति संघेष ।

इस पूर्व प्रकार से जब आत्मा देहादि से भिन्न सिव हुआ “तो नानात्मानो व्यवस्थातः” इस वैशिष्ट्यक मूल से अनेक और “विभवानाकाशस्तथाचात्मः” इस यै० द० सू० से विभु “इच्छा॑-देपप्रवत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगम्” इस न्या० द० सू० से इच्छादि विशिष्ट सिद्ध होने पर वह पदार्थों के साधर्य वैधर्य ज्ञान पूर्वक तत्त्व ज्ञान भक्त्यादि द्वारा परमात्म साक्षात् कार से # मुक्ति (आत्मनितक दुःख निवृत्ति) को प्राप्त होता है “तद्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः” उस जन्मात्मक दुःख से अत्यन्त छुटना हि मोक्ष गौतम जी ने कहा है इसी की पुष्टि में कपिल जी भी मात्य में लिखते हैं “अथ चिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्तपरुपार्थः” आध्यात्मिकादि तीन दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मुक्ति पदार्थ है ऐसे मोक्षपद की प्राप्त होकर फिर आत्मा की संसार में प्राप्ति नहि होती यह धार्ता श्रुति भगवती भी न च पुनरावर्तते २ धीर्षा द्वारा दृढ़ करती है इस मुक्ति के ज्ञाम में गौतम जी ने सूत्र में क्रम भी बोधन किया है”

तथाहि “दुःखजन्मप्रहृत्तिदोषमिद्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये॑ तदनन्तरापायादपवर्गः” अथ॑-जब पूर्व मूल से अनुवृत्त तत्त्वज्ञान से मिद्या ज्ञान ( कर्म मे लिना हि शरीर जन्म जन्म निवृत्तिभी अनिमित्त मुक्ति दुःख रूप है अथवा अनित्य में नित्य हुहि अशुचि मि शुचिज्ञान आदि ) की निवृत्ति हुई तब तदधीन रागदेष मीष स्वरूप दोषों की निवृत्ति होती है उसकी निवृत्ति से जन्म जोकि सर्व

वैत्युते, इतिवाणीचतुष्टये प्रथमाया; पश्चस्यायावद्धरूपाया या-  
ग्यादग्नंगम, इतिपाणिनोयाः । पूरुषस्य निर्लंपस्य कौशल्येनाव-  
स्थानं मळिः इतिपातञ्जलाः । इतिसंघेषोऽधिक जिङ्गामुभिर्तुं  
मर्वदर्ग्नमधरूप निर्शयादोद्रष्टव्यम् ॥ प्रकाशयिष्यते च मया निखिल-  
मतागम्भितो भाषाटीको पेतस्त्वरूपनिर्णयै इति समाप्त्यते ॥

**अथापितव्यतरवैज्ञानिकमुक्तिविचारोऽपिदश्यंते म  
नाकृयथपितस्याचनिवेशेत्तेवगौरवलाभःस्यात्तथा पिदपित्यपथमानी  
यैव तं विद्वासोहस्रयमाजोभविष्यन्तीतितद्विनोदएवात्यदित्यासेफल  
मनु सन्धातन्यं समीक्षयताऽचतद्युक्तिपाठवं कोविदपवरैः कोऽपिवि-  
लच्छणपाएडत्यवैभवः पणिडतनानी “घटं छिन्द्यात् पटमित्यादि  
न्यायमवलम्ब्य निजममज्ञा प्रचिह्न्यापयिषुशास्त्रीयगन्धविधुरसं  
मदि “मुक्तोऽपिपरावर्तते,” इत्यभिमतकृतान्तमाविरकरीत् । प्रादर्थं  
यच्चतत्त्वयुक्तिजासमस्तकीपरनामधेयं तथाहि—मुक्तो रपिकेर्मजन्य  
तया यज्ञन्यतदनित्यमितिव्याप्तेः, क्रियत्कालं मुक्तिसुखमनुभूय-  
कर्म समाप्तो पुनरपिपरावर्तते, इतियुक्तियुक्तं किञ्चचयदि मन्यते  
पनराहत्तिर्वहि सम्भवति तदा परमात्मनः सन्नितधौ महतीजनता  
मन्यपद्येतेति तचावकाशाभावःस्यात् ।**

**अन्यच्च—कल्पनामानन्त्येन यदैककोऽपिप्रतिकल्पमपवर्ग  
माकृस्यात्तदापिक्रमयः संसारोच्छेदापत्तिःस्यादिति ।**

**अपिच्च—निरन्तरसुखमन्ततिरनातोदाङ्गति ततः खिन्नः स ।  
सारिकमुखमन्दोहं यथा मिष्टभोजमतृप्तः सलवणमद्यमभिलषती  
तिमतम् तदृशितमसाधाणच—ऋग्वेदे “कमयनुनं कतमस्याम्  
तानामनामहे च। ऋदेवस्यनाम कोनोमहा अदितेः पुनर्दीतमातर-  
च्च—दृष्टेयं पितरच्चेति ।**

तत्कातोर्ध्वं यन्मुहुः प्रार्थयते कस्यनामसर्वेभ्योऽधक कस्य  
वा, उपासनयाहं पूर्वेतनमातापितरौपर्येयमितिभावः । इति पूर्वपचे  
संचेपः ।

### अथापिश्रत्युच्यतेऽत्रक्रमशः ।

**१ मुक्तिकर्मफलमितिप्रथमोऽसत्तर्कः ।** सोऽयंराष्ट्रान्तः  
श्रुतितात्पर्यानभिज्ञतयोऽग्निः केवलननरकप्रापितद्वेतुर्नद्वाच्युतयः  
प्रमाणतयादृश्यते प्रत्युततहिपरीतार्थमिधायिका एवतयाहि “त-  
द्वयेहकमचितोलोक चोयते, एवमेनामुच्चपुण्यचितोलोक, चीयते,  
इत्यादिश्रुतिर्यत्कातकं तदनित्यमितिसत्तर्कोनुगृहीतो दर्घनविप्रयता  
भानीयते । “नकर्मणा न प्रजया धनेन ह्यागेनके असृतत्वमानम्;  
इत्यनयाच श्रुत्या सुशप्टमेवकर्मणामुक्तिकारणत्यन्निराकृतम् ।  
नच “हिरण्यदा असृतत्वमजन्ते, कर्मणामोक्षसाधनत्वागमात्कर्य-  
कादय इत्यादिश्रुतिर्यत्प्रयश्च कर्मणामोक्षसाधनत्वागमात्कर्य-  
कानादेवमोक्षमवतीत्युक्तमितिवाच्यम् । तत्रासृतपदेनापेत्रिकासृत  
त्वस्याभिधानात्, इतरथाश्रुत्यन्तरविरोधोदुर्बारोभवेत् ससिद्धिप-  
देनचान्तःकरणशुद्धिरेवविविचिता ॥

**२ अवकाशाभावरूपो द्वितीयोऽसत्तर्कः ।** चत्रापिचु  
“माधि” अहोमोर्हर्यविलसिते परमात्मनी व्यापकस्वमभ्युपगमद्वन्निय  
स्त्रय देशपरिव्वक्षेद सम्भावितः कथन्नचनानयावाचीयुक्त्याघटकुटी  
प्रमातन्यायेनानीष्टतोऽपिमाकारवादोऽग्नी क्षतीभवेत् । “मृत्योः  
समान देशताविरोधः” इत्यपिनियमोऽनुभवपथन्नाधिष्ठानचेति ।

**३ संसारोच्छेदापत्यात्मकस्तृतीयोऽसत्तर्कः** तथ्यमनाक्  
पराक्रम यद्यप्यनयायुक्त्या ज्ञानलब्धुर्विदर्घजनास्तु प्रसादस्यप-  
राकाष्टामधिरोक्ष्यन्ति तथापि ग्रेमुदीमस्त्रकारडहन्देज्जुगति जा-  
गतिं च प्रामाणिकजनवावदसन्दोषे कथज्ञारंगमाणिकसंसदि प्रति-

### (५) तदर्शितप्रमाणम् । तस्योचरम् ।

इदं च प्रमाणं प्रकान्ताभिसतमतानुकूलं नास्ति यज्ञीयप्रकरणव-  
स्त्रादस्य निकलयुक्त्युच्चय वद्यमाणशुत्यादि विरोधाच्च तथाहि  
“तमेवविदित्वा तिमृत्युमति नान्य, पन्थाविद्यतेऽयनाय” इत्यादि  
पञ्चदद्यपूर्वप्रसूक्ते ‘नचपुनरावर्तते’ इत्युपनिषत् । ‘अनावृत्तिशब्दाद  
नावृत्तिशब्दात्’ इतिगारोरिकमूच्चम “नमुकास्यपुनर्वन्धयोगोऽय-  
नावृत्तिश्च युतेः” मा० द० अ० ६ । “कुशलस्यास्तसंसारकमसमा-  
प्तिर्वतरस्य यो० भाष्य पा० ४ ‘मामुपेत्यतुकोम्तेय पुनर्जन्मनवि-  
यते’ इतिगाता । इत्याद्यनेकप्रमाणसिद्धाद्यनावृत्तिर्वद्विभुवि-  
नावकाश्चलभस्ते स सप्तार्णवमरनमात्मानन्ननीहत्यकामस्वयन्न  
पटः परान् नाययतीमाल्कोक्तिमनुसरतीहनमनागर्विमर्यगन्धः  
पद्यविवाद्युक्तप्रमाणान्तराद्यपिष्ठुरडनमईन्ति तथापि अन्यहुवि-  
भिया प्रधानमङ्गनिर्वहणन्यायेन कथापि खलुपापानामलं  
मर्येयसेयत इत्युक्तिचानुरुद्धयेहैवोदास्यते, इत्यलं ऋतमारणेन ।

**धर्मा धर्मश्रियोऽध्यक्षर निशेषगुणयोगतः॥४९॥**

टो०—सो इनपूर्वाक्युक्तियों से जब आत्मा की शरीरादि  
श्वन्तिरेक में सिद्धि हुई अब उसके धर्मों का निष्पत्त करते हैं ॥४९॥  
आत्मा धर्म तथा अधर्म का आवश्य है, एव विशेष सुखादि गुणों  
के सबन्ध से उसका प्रत्यक्ष होता है ॥५०॥

**प्रगृत्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः ।**

**अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्यगोचरः ॥५०॥**

टो०—जैसे रथ की गति को देख कर रथवाही का अनुमान  
होता है वैसेही दूसरे ग्रन्तीर में वर्तमान आत्मा चेष्टा से अनुमित

होता है। और वह आत्मा अद्वार चर्यात् अहं प्रत्ययका आश्रय  
से और केवल मन इन्द्रिय से गृहीत होता है ॥५०॥

### विभुवृद्धचादिगुणवान् ।

टी०—वह आत्मा विभु चर्यात् सर्व मूर्ति संयोगी है तथा  
वृद्धि आदि चतुर्दश गुणों वाला है।

१ बुद्धिस्तुद्विर्विधामता । २ अनुभूतिः ३ स्मृतिश्च  
स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥ ५१ ॥

टी०—प्रमङ्ग से कई एक वृत्ति के भेद दिखाते हैं वह बुद्धि  
दो प्रकार की है। एक अनुभवषणा और दूसरी स्मरणषणा एवं  
अनुभवषणा बुद्धि पुनः चार प्रकार की है ॥

### ४ प्रत्यक्षमध्यनुभितिस्तथापमितिशब्दजे ।

१ बुद्धिव मामान्यती बुद्धिः साचात्म माचडतिः (नत्वन्तः  
करण्यापार.) बुद्धिपलविधर्णानभित्यनर्थान्तरम् गां० द०। १।१।  
१५। बुद्धानपर्यायित्वक्यनेन, साम्यमतनिरामः । सन्मतेषुद्देर  
मतःकरण्यधर्मत्वम् । २ अनुभूतिरनुभव इत्यनर्थान्तरम् । स्मृति

४८ । इ मरकारेमा चक्रव्यक्तान्तर्यं स्मृतिश्वभू  
माचपदानुपादाने सोऽप्यार जन्य प्रत्यभिज्ञानेऽतिथ्याप्तिः तदेष्य  
तदुपासं तस्यसंकारेतरचक्रुतोऽद्विनन्यत्वात् ॥

१ प्रमाता येनपर्यं प्रमिणोति, सन् एमात्मम् २ इन्द्रियार्थ  
सम्बिनकर्योप्यनन्तं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

तदृष्टम् “आत्मामैतिमनमा, मन इन्द्रियेष्व, रक्षायेत्  
चेन्द्रिय मितिकम् एषयीघम् । यंगोऽयमेव मनसः किमगम्यमिति  
याग्यम् मनोऽप्यमितिभृतोऽयमाहमा ॥ १ ॥

टो—उत्ता चार भेद भिन्न अनुभूति एक प्रत्यक्ष रूपा दूसरी अनुमिति रूपा तीसरी उपमितिरूपा और चौथी शब्दजनन्या है इन्द्रिय से उत्पन्नज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं उसमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है उसका विषय के साथ मन्योगादि सबन्ध व्यापार है ऐसे ही ! अनुमिति ज्ञान में अनुमान प्रमाण है व्याप्ति स्मरण व्यापार है इसी तरह उपमिति में (अर्थात् संज्ञा उच्चि सबन्ध ज्ञान में) उपमान प्रमाण है अतिदेश वाक्यार्थ स्मरण व्यापार है एवं शब्दज्ञान में पदज्ञान करण है पदजन्य पदा शेषिस्थिति व्यापार है गौतम दर्शन में चारही प्रमाण माने हैं चार्वाक कीबल प्रत्यक्ष को ही मानते हैं अनुमान को भी काणादस्वीकार करते हैं शब्द भी साक्ष्य मानते हैं उपमान भी नैयायिक रथीकार करते हैं अर्थापत्ति भी पञ्चम प्रमाण प्राभाकर मीमांसक मानते हैं अनुपलब्धि भी भट्ट और वेदान्ती स्वीकृत करते हैं एवं मन्मद ज्योतिर्विद् ऐतिह्य योरायिक और चेष्टा तान्त्रिक मानते हैं अन्तर्भाव दिखाने से यन्य बढ़ने का भय है अतः अन्यत्र देखो ।

### धूणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं पड्विधमतम् ॥ ५२ ॥

टो—वह निरुक्त प्रत्यक्ष व्याख्य, रासन, चाचुप, रणाधन, औच, और मानन भेद से क्षेत्र भेद का है (अं०) ईश्वर का प्रत्यक्ष-तो इन पड्विध प्रत्यक्षों में नहीं आसला इस से न्यूनता होगी (उ०) यहा पर जन्य प्रत्यक्ष ही विवक्षित है क्योंकि सूचकार ने जन्य प्रत्यक्ष का ही लक्षण किया है ॥ ५२ ॥

धूणस्यगोचरोगन्धोगन्धत्वादिरपिस्मृतः ।

तथारसोरसज्जास्तयाशब्दोऽपिचश्रुतेः ॥ ५३ ॥

टी०—गन्धगुण गन्धत्व जाति तथा गन्धाभाव यह तीनों प्राण इन्द्रिय के गोचर अर्ग्गत् आद्य है। ऐसे ही रसगुण तथा रसत्वादि जाति रसाभाव इन सबका रसना इन्द्रिय से प्रहृष्ट होता है परन्तु गन्ध और रस उद्भूत समझना अन्यथा परभाषु रस का भोजन होना चाहिए ॥ ५३ ॥

उद्भूतरूपं नयनस्यगोचरो द्रव्याणितद्विन्ति-  
पृथक्त्वसंख्ये । विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं  
परिमाणयुक्तम् ॥ ५४ ॥

कियांजाति योग्यवृत्ति समवायं चतादशम् ।  
एहाति चक्षुः संवन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥ ५५ ॥

टी०—उद्भूत रूप और उद्भूत रूप वाले द्रव्य ऐसे ही प्रथम तथा विभाग मध्योग परत्व तथा अपरत्व। इनेह तथा द्रवत्व तथा परिमाण प्रत्यक्ष योग्य द्रव्यगत क्रिया तथा जाति तथा समवाय इन सर्व का प्रहृष्ट नेत्र इन्द्रिय द्वारा होता है परन्तु नेत्र रक्षके प्रत्यक्ष के बास्ते प्रकाश मुवन्ध तथा उद्भूत रूप की सहायता मेता है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

उद्भूतम्पर्गवद्वद्वये गोचरः सोऽपि चत्वचः ।

\* इदन्त ज्ञातश्च तस्य इडयाय प्रत्यक्त्वं यथासमवायेन स-  
इत्परिमाण भवेत् । गुणकर्मणोऽस्यतयोरेव प्रत्यक्त्वात् यथाम् सम-  
वायि समवेत्तत्त्वं संवन्धेत् सहस्रप्रयोगे दिति सम्य । यथागामादिजा-  
तस्य प्रत्यक्त्वं यथासमवायिमस्येत्तमस्यित्तस्यवध्येन सहस्रं  
गम्भवेदनयेत्तदित्यादिपदार्थीना प्रत्यक्षे प्रकाश मुवन्धी इत्त-  
तस्यपदोरपि इत्तस्यमवेयम् ।

टी०—जिम द्रव्य में उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्श, हो वह द्रव्य त्वक् इन्द्रिय का गोचर अर्थात् विषय है ऐसे ही वह उद्भूत स्पर्श भी स्पर्शत्वादि महित त्वगिन्द्रिय से गहीत होता है ॥

**रूपान्यच्चक्षणोयोग्यं रूप मत्रापि ॥ ५६ ॥**

टी०—रूप तथा रूपत्वादि से भिन्न जो चक्रु इन्द्रिय से गहीत होते हैं वे त्वगिन्द्रिय के भी यहण धीर्घ है इस से मंस्त्रादी पूर्वोक्त चक्रपूर्ण एव सभी त्वगिन्द्रिय के भी विषय हैं यह मिछ हुआ और द्रव्य त्वा च प्रत्यक्ष में रूप हो कारण है । जो वायु का प्रत्यक्ष नहीं मानते वे वहिन्द्रिय प्रत्यक्ष में केवल उद्भूत रूप को कारण मानते हैं और नवीन ती वायु का भी प्रत्यक्ष मानते हैं स्पाश्चेन प्रत्यक्ष में स्पर्श को कारण मानते हैं अतः वायु रूप द्रव्य प्रत्यक्ष में उद्भूत स्पर्श कारण बनते हैं ॥ ५६ ॥

**द्रव्याध्यक्षेत्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।**

**मनोग्राहां सुखंदुख मिच्छादेपो मति-कृति ॥ ५७ ॥**

टी०—मन के साथ त्वगिन्द्रियका मस्त्रन्ध ज्ञान सामान्य में कारण है अर्थात् कई नैयायिक काव्ये हैं यावत् ज्ञान है वे सभी मन के साथ त्वगिन्द्रिय के मस्त्रन्ध में होते हैं और इस में युक्ति यह है कि मुपुष्टि काल में त्वचा की त्याग करके पुरीतन्नाड़ी में मन के प्रवेश करने पर कोइ भी ज्ञान नहीं होता सुख दुख, इच्छा, हेतु ज्ञान तथा यत्न ये जः गुण भी मन इन्द्रिय के विषय हैं । ५७ ॥

**ज्ञानं यन्निर्विरुद्धाख्यं तदनीन्द्रियमिष्यते ।**

---

यदुक्तम् \* अस्तिद्वालोचन ज्ञान प्रथम निर्विकल्पकं वालमूकादि विज्ञान चुक्त्य भूम्य व्यतुत्तम् ॥ एकारत्म शून्य ज्ञानत्वं विगेष्यता

टी०—ज्ञान को निर्विकल्प संभिक “सर्थीत् विग्रेष्य विग्रेषण” के परस्पर सम्बन्धनवगाहिज्ञान है वह अतोन्मिदय है अर्थात् सम्भव का प्रत्यक्ष नहीं होता उदारण “यथेदंकिन्चित्” जैसे यह कुछ है

**महत्त्वं पड़्विधेहेतुरिन्द्रियं करणं सतम् ॥ ५८ ॥**

टी०—द्रव्य प्रत्यक्ष में महत्त्व सम्बाय सम्बन्ध से कारण है इत्यादि पूर्व टिप्पण में स्पष्ट लिख दिया है पूर्वोल्ल चालुपादि भेद से छः प्रकार का जो प्रत्यक्ष सम्भव में महत्त्व की कारणता है और इन्द्रिय करण माना है ॥ ५८ ॥

**विषयेन्द्रियं संबन्धो व्यापारः सोऽपि पड़् विधः ।**

**द्रव्यग्रहस्तु संयोगात् संयुक्तसमवायतः ॥ ५९ ॥**

संसर्गता शून्य ज्ञानत्वं वा निर्विकल्पकल्पम् एवं विषयताया ज्ञान निरूपितत्वेन ज्ञानस्य च विषय निरूपकत्वात्प्रकारता निरूपक च ज्ञानत्वं मविकल्पस्य लक्ष्यम् ॥ १ ॥ तदुदाहरणस्तु यथाडित्योऽयं इदत्यावच्छिन्नविग्रेष्यतानिरूपक डित्यत्वप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकमित्यर्थः । सौगतादयस्तु सविकल्पकं ज्ञानमन्वितमन्यते उदाहरन्ति च तथ युक्ति जाल यदर्थानां नाम्ना संबन्धा भावात् घट इति नामानुरच्छिते ज्ञानं न प्रमाण मिति भावः । किञ्च जात्यादि कि भूपि उद्दस्तु नास्ति चेत्क्यथंतर्हि तथाभूत पदार्थस्य विषेषतया घटादिज्ञाने भाव मिति ततुच्छ, इन्द्रियार्थमन्वितकर्थ जल्वेननिर्विकल्पकवत् तस्यापि प्रसारण्त्वात् । मविकल्पकमन्तरा निर्विकल्पकामिहेत्च मविकल्पकेनैवेतुना निर्विकल्पक साध्य सिद्धि विधानात् तथाहि विग्रिष्टज्ञानं विषेषण ज्ञानजन्यं विग्रिष्ट ज्ञान त्वात् दण्डोति विग्रिष्ट ज्ञानवदिति प्रयोगः ।

टी०—विषयों के साथ इन्द्रियों का जो सम्बन्ध वह व्यापार है और वह व्यापार भी क्यों प्रकार का है उसी को उदाहरण लारा दिखाते हैं यथा द्रव्यों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय संयोग व्यापार है वयोंकि इन्द्रिय भी द्रव्य हैं द्रव्यों का ही परस्पर संयोग होता है और द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध में वर्तमान गुण आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय संयुक्त समवाय वयोंकि इन्द्रिय तो द्रव्य से संयुक्त है और उसद्रव्य में फिर रूपादि समवाय सम्बन्ध से रहते हैं वयोंकि गुण गुणि और जातिव्यक्ति आंदिका समवाय सम्बन्ध माना है ॥ ५८ ॥

**द्रव्येषु समवेतानां तथा तत्समवायतः ।**

**तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः ॥ ६० ॥**

टी०—इस कारिका में 'द्रव्येषु समवेताना' कारिका भाग पूर्व कारिका में व्याख्यात होचका है अब आगे 'तथा' द्रव्यों में समवेत जो गुणादि फिर उनमें समवेत जो गुणत्वादि जातियं उनके प्रत्यक्ष में तत्समवायतः अर्थात् इन्द्रिय संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्पय है वयोंकि इन्द्रिय संयुक्त हुआ घट रूप द्रव्य उस में समवाय हुआ नील गुण का फिर उसमें समवाय गुणत्वका है अर्थात् द्रव्य समवेत समवेत प्रत्यक्ष में इन्द्रिय संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्पय है यह अर्थ तथापि समवेतानां यहा तक निकला और योच इन्द्रिय से गद्दके प्रत्यक्षकरनेमें योच समवाय सन्निकर्पय है वयोंकि कर्णविवरवर्ति आकाशको ही तो योच संज्ञा है और यद्द आकाशका गण है और गुण गुणिका परस्पर समवाय सम्बन्ध है ॥

**तद्वृत्तीनां समवेत समवाये न तु ग्रहः ।**

**प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥६१॥**

## विशेषणतया तद्रदभावानांप्रहो भवेत् ।

टी०—तद्रदभीना अर्थात् ग्रन्थ में रहनेवाले ग्रन्थ त्वादि धर्मों का 'ममवेत् ममवाय' सम्बन्ध से प्रहण होता है, और ममवाय का 'विशेषणता' सम्बन्ध से यहण होता है । ६१ ।

तथा अमार्दी का प्रत्यक्ष भी विशेषणता सम्बन्ध से होता है दोनों स्थलों के उदाहरण यह हैं क्रमसः "यहनील घटहे" इस वाच्य से नील विशिष्ट घटहे ऐसे शब्द बोध होनेमें समवाय भी विशेषण रूप से प्रतोर्त होता है अतः उस के प्रत्यक्ष में विशेषणता सन्ति-कर्य है तथा भूतलादि निष्ठ जो घटादिकों का 'अमाव' लेसे 'भूतले घटो न' इस स्थलमें भूतल विशेषण है वर्णकि सदतस्यन्त विशेषण होता है और घटा 'भाववहूतलम्' यहांपर घटाभाव विशेषण और भूतल विशेषण है अतः पूर्व स्थल में तो चक्रः सबह विशेषणता सन्ति-कर्य और उत्तर में चक्रुः सबह विशेषणता सन्ति-कर्य है ॥

## अयदिस्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसङ्ग्यते ॥ ६२ ॥

टी०—इम पूर्वीक अभ्युव प्रत्यक्ष में शका करते हैं कि भूतल में लैसे घटा भाव का प्रत्यक्ष होता है एसे ही स्तम्भ में पिशाचा भावचक्षुः भगृहीत क्षेत्रों नहि होता उसमें उत्तर करते हैं यदि स्यादुपलभ्येतति" कि सर्वत्र घटा भाव की प्रत्युत अभाव मात्र की उपलक्षित होती अपितु जिस स्थलम् यदि घट होतातो उप-स्थध होता ऐसा तर्क का प्रयोग कर सकत है वहां पर ही घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है सब त्र नहीं वर्णकि अन्धकार स्थलमें घटाभाव

#उदभूत रूपावच्छिन्नात्मोक सर्योगावच्छिन्नं महत्त्वावच्छिन्नन्नचक्रुः सर्योगत्य चाक्षुप प्रत्यक्षे हेतु त्वान्न विग्राच तदभावयोर्यहैति भावः ।

का चाचुप्र प्रत्यच्च नहीं हो सकता वर्योकि यहाँ पर पूर्वोत्ता तर्क का प्रयोग ही नहीं कर सकते वर्योकि कदाचित् वहा वधा जाने घट ही परन्तु प्रकाश स्वरूप सुहकारि कारण के न होने से ही न प्रतीत होता ही ऐसे ही पिण्डाच में भी #रूप के न होने से उस का और उस के अभाव का भी प्रत्यच्च नहीं होता वर्योकि उक्त तर्क योग्यता यहाँ पर भी नहीं बन सकती । ६३ ।

**अलोकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधःपरिकीर्तिः ।**

**सामान्यलक्षणोज्ञानलक्षणोयोगजस्तया ॥६३॥**

**विशेषिक नयेत् समवायोऽतीन्द्रियः ।**

**तदृक्तम् माचात्कारेत्वभावस्य स्मरणं तद्विरोधिनः ।**

**वदन्तिकारणयोगानुपक्षम्भन मेवत् । १ ।**

**अर्थः—** अभाव प्रत्यच्चे प्रतियोगिनः स्मरणं प्रत्यच्च योग्य प्रति योगिन उपक्षम्भावरूप कारणम् । इयास्तु विशेषोयन्यादनयेऽभाव स्येन्द्रियेरेवप्रहः प्रतियोग्युपलब्ध्यमावस्य महकारिकारणत्वं प्राच्यो दीच्य सीमासाक्षतस्तु प्रतियोग्यनुपलब्धेरेवस्वतन्त्रतया प्राप्नाएवं मेनिरेतत्त्वग्नितितज्जन प्रतारणमात्र यदि घटस्य प्रत्यच्च चक्रुपाजन्यतेतद्वितीयतदभावस्यापि किमितितेनैवनेस्यात्स्याच्चतरया; महकारिआरणत्वमूरतर्कितप्रतियोगिस्त्वविरोध्यनुपलब्धिमहज्जतेनेन्द्रियेरेवभावज्ञानोपत्तायनुपलब्धेर्मानान्तरत्वामम्भवदत्याहुः। तदर्थरूप तर्किता आपादिता प्रतियोगिनो घटा देः सत्त्वस्य सत्त्वप्रमाणेर्विरोधिनी या उपलब्धिस्तत्प्रतियोगिकोऽभावोऽनुपलब्धिस्तत्सहजा तेनेति । अन्यथा इह घटोनास्ति’ इतिनिर्णयानन्तरं ‘इह घटा भावं साचात्करोमि’ इतिसाचात्कार विषयक प्रत्ययानुपत्तेरिति समरतमनवद्यम् ।

यहाँ पर लक्षण पद को स्वरूप परक नहीं जानना वर्धीकि यदि ऐसा करेंगे तो मामान्य स्वरूप अर्थ निकलेगा और ममानो के भाव को सामान्य होने से 'तद्रूतसं घटवत्' इस स्थलमें तद घट ही सामान्य पड़ेगा परन्तु दैवात् नव उस घट का नाश हुआ तब घटाधिकरणत्वेत् सकल उस घट वाले अधिकारणों का बोध नहीं हुआ चाहिये वर्धीकि मामान्य रूप से भास्मान घटत्व का, उस काल में अभाव है और वही अधिकारणोंके साथ ज्ञान का सबन्ध है वर्धीकि इन्द्रिय मंवद विगेयक ज्ञानमें प्रकाशीभूत धर्म ही तो सामान्यरूप है अतः लक्षण पद का विषय अर्थ करना चाहिये तब सामान्य विषयज्ञान अर्थ करना तब तो यद्यपि घट नष्ट हुआ है परन्तु उस का ज्ञान तो बना ही है तो पूर्वात्मा बोध का होना अनुपर्यन्त नहीं हुआ इसलिये अग्रिमकारिका से स्पष्ट करते हैं ॥ ६३ ॥

चाचुर्यं चन्दनस्यचचुर्विषयत्वेऽपिमौरभस्यतदविषयत्वात्, एव्यानु-  
भूताय चौरभस्यालौकिकं प्रत्यक्षं जन्यते तथाच-<sup>१</sup> सुरभिवन्दन  
मित्यव नौरभाग्नेऽलौकिकत्वम्, तच्चचु, सन्निकर्षेत्यानहंत्वात् चचु;  
मयुक्तचन्दनसमवायस्यतत्प्रसन्नत्वेऽप्यपर्याजकात्वादितिभावा; एव च-  
रञ्जुसर्पादिवोधेऽपिसर्पत्वाद्युपस्थितिर्ज्ञानतत्त्वाद्यसन्निकर्षादेवमवति  
सर्पत्वादौचचुः सन्निकर्षाभावात् । अयच्चसन्निकर्षं पञ्चि  
न्द्रिय महकारी, इतिसपदायविद्याहुः, मनसुएवसहकारी  
इतिगूरुपाणिमिश्राचमन्यन्त ( ग्रं० ) निरुत्तमसन्निकर्षोद्योरेवं  
वृहिकृपत्वे त्योर्मदोनस्यादिति ( च० ) सत्यं तथापि  
कार्यमेदादेवमेदइतिविदि सामान्यसत्त्वण्यातुजातिज्ञानेनव्यतीना  
ज्ञानक्षेत्रयाच जातिज्ञानेन जातीनामेवज्ञानं भवतीत्यसङ्कदुल्ल  
मोदणागितिरत्त्वम् ॥

आसत्तिराश्रयाणान्तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।

तदिन्द्रियज्ञतद्वर्म वोधसामप्रचपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥

टी.—आसत्तिरिति, 'आसत्तिः' अर्थात् घटादि सन्निकर्पे पाचयी नाम अधिकरणों का तो सामान्य विषयक ज्ञान ही मानना चाहिये, ( १० ) यदि सामान्य विषयक ज्ञान को हि सन्निकर्पे मानोगे तो जिस स्थान पर चक्षुः संयोगादि जागथी नहीं वहां पर भी सज्जन घटादिकों का चाक्षुपादि प्रत्यक्ष होना उचित है क्योंकि वहां पर सामान्य ज्ञान बना है ( उत्तर ) रसे स्थल मे अन्य सामयी के अभाव प्रयुक्ता प्रत्यक्ष का अभाव है उसी सामयी को कहते हैं “ तदिन्द्रियल ” इत्यादि से ( तत् ) नेत्रादि इन्द्रिय उस से ड्रव्यन्न जो उस धर्म प्रकारक ज्ञान उस की सामयी कारण ममुदाय अर्थात् लौकिक चाक्षुपादि प्रत्यक्षर्थ जो अपेक्षितचक्षुः भंगोदि उसकी अपेक्षा अर्थात् यहां पर सकल घटादि अलौकिक वीध में भी आवश्यकता है इसी हेतु मे ही तो अन्धवारादि में चक्षुपादिहारा घटत्वादि धर्म विगिष्ठ धर्मोक्तज्ञान नहीं हो सकता, इस लिये वहां पर सामान्य लक्षण प्रत्यासत्तिमी नहीं होती ॥ ६४ ॥

विषयीयस्य-तस्येवद्यापारोज्ञानलक्षणः ।

योगजोद्विविधः ग्रोक्तोयुक्तयुज्जानभेदतः ॥ ६५ ॥

१ योगाभ्यामजनिताद्वृष्टिविषेषत्वं योगजत्वम् ॥

२ योगाभ्यामइग्रात्सर्वदा सकल विषयक ज्ञानाधिकरणत्वं युक्तस्वम् ॥

३ विन्तासहकारेण सकल विषयकज्ञान वृक्षं युज्जानत्वम् ।

टी०—वित्तीय सन्निकर्पं को कहते हैं 'विषयी' इत्यादि से ज्ञानलक्षणः व्यापार 'यस्यविषयी' अर्थात् यहिष्यक ज्ञान हो तस्यैव अर्थात् अपने विषयका ही व्यापार ज्ञानना जैसे कि जिस स्थान पर 'सुभिचन्दनं', यह चन्द्रुमे चन्दन को देख कर ज्ञान हुआ है वहां पर मौरभ चन्दन और चन्दनत्व यह वित्तय ज्ञानके विषय है परन्तु इनमे चन्दन और चन्दनत्व का तोनेच संयोग तथा नेचन्द्रुम समवाय सम्बन्धसे आमसुलोकिका प्रत्यक्ष बन सकता है परन्तु मौरभागका चाचुप्रत्यक्षतो लोकिका संबन्ध से सर्वदा दुःशक्त है अतः उसके साचात् कारके लिये कोई अलोकिका संबन्ध मानना उचित है वह संबन्ध 'नेच संयुक्त मनः संयुक्त आत्मसमवेत ज्ञान रूप' परम्परा संबन्धही के बन बन सकता है इसी का नाम ज्ञानलक्षणा प्रमिद है अपतृतीय मन्निकर्पं कहते हैं योगाभ्यासमे दो सामर्थ्यं पुरुषमे उत्पन्न होते हैं इस लिये योगियों की भी यत्त और युज्ज्ञान नाम के दो भेद हुए और योगजधर्मं भी विविध होता है ॥ ६६ ॥

### युक्तस्य-सर्वदा भानं चिन्ता सहकृतोऽपरः ॥

टी०—उन दो भेद के योगियों में युक्तयोगी को तो समाधि आदिके यत्न से प्रियासारे पदार्थों ज्ञान स्वभावसे ही सर्वदा होता है और समाधिहारा जिन की वाक्षित तत् २ पदार्थों का साचात् कार होते थे युज्ज्ञान होते हैं ।

---

इतिकारिकावली रहस्य प्रकाशे प्रत्यक्ष परिच्छेदः ।

# कारिकावली रहस्य प्रकाश सहिता

श्री सद्गुरुप्रवरगङ्गाधर शास्त्रिभ्योनमः ॥

अब अनुमान परिच्छेद का प्रारम्भ करते हैं ॥

व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत् ॥६६॥

अनुमायांज्ञायमानं ९लिंगन्तुकरणं नहि ।

अनागतादिलिङ्गेन न रस्यादनुमितिस्तदा ॥६७॥

टीका—येष्ठ होने मे और निखिलवादि भस्मत और अनुमान का अनुभावक होने से अनुमान से पूर्व प्रत्यक्ष का निरूपण किया है अब हेतु हेतु भावावसंगति ( ३ ) से प्रत्यक्ष के अनन्तर

१—व्याप्ति चलेन ज्ञीनसर्वद्वयीर्ति लिङ्गं, अवदा व्याप्ति वसेन यद्यस्यगमकं, तत्तस्य लिङ्गम् । इदं लिङ्ग दिविर्ध—सत्त्विलङ्गम् असत्त्विलङ्गच तत्र व्याप्ति पञ्चधर्मतावलिङ्गं स लिङ्गम्, तद्वच व्याप्तेन (माध्येन) व्याप्त्यं भवति तदिरन्ततथा । सख्यमतेतु महत्तत्वादिकार्थज्ञातं लिङ्गं पदेन परामृश्यते तत्र व्युत्पत्तिस्तु लयं गच्छति प्रधान इति ।

२—लिङ्गानजन्यनिहित्तानमनुमितिः परामर्यज्ञानजन्यवाऽ  
उदाहरणन्तु पर्वतेष्विलिंगाधरने पर्वतेष्वमदगोनानन्तरं पर्वतेष्विलिंग-  
मान्, इति ज्ञानम् ।

३—प्रसङ्गादन्यतमत्वं सङ्गतित्वं यद्यदनन्तरं निरुद्ध्यं  
भवति, तत्तस्य समग्र भवति । अतएव “नामंगत प्रयुज्जीत” इत्य  
भियुक्तोऽस्मि । जायतेच कार्यं कारणे वा ज्ञाते कार्यहत्वर्य  
कारणहत्वर्य वा ज्ञानात् विभूष्यकारणकार्यं वा इति, जिज्ञासा  
पतस्तयोर्हयोरपिमंगतिरस्त्वयेव ॥

अनुभान का निरूपण करते हैं—“व्यापारस्तु” इत्यादि अन्य में „अनुभायां,, अनुभिति स्वरूपज्ञान में व्याप्तिज्ञानतो करण है, जिसकी अनुभान (४) भी कहते हैं और परामर्श ज्ञान, मध्य में व्यापार है, व्यापार से व्यापारी को अन्यथा सिद्धि कदापि नहि होती इस लिये व्याप्ति ज्ञान स्वरूप करण परामर्श के द्वारा अनुभिति रूप फलको उत्पन्न करता है।

(ग०) अनुभिति ही व्या पदार्थ है(उ०) नियम से इकट्ठे रहने वाले एक पदार्थकी ज्ञान से दूसरे पदार्थको जानने को अनुभिति कहते हैं जिम एक वस्तु के ज्ञानने से दूसरी वस्तु जानी जाय उसको इतु(५) कहते हैं जैसे पर्वत में स्तीन अग्नि धूम रूप हेतु से जानी जाती है, अतः धूम हेतु हुआ कई प्राचीन आचार्य अनुभितिमें ज्ञान विषयी भूत हेतु को करण मानते हैं, परन्तु सिद्धान्त में व्याप्ति ज्ञान ही करण है इसी बात को मन में दिखाते हैं कि “ज्ञायमान” इदानी प्रत्यक्ष विषयी भूत ही लिङ्ग (हेतु) अनुभिति में करण नहि है अन्यथा अनागत (भविष्यत) आदि पद से अतीत हेतु से अनुभिति नहि होनी चाहिये और होती तो है तथा हि—इस यज्ञ के घर में आग है, जिम से प्रात काल में यहा धूम था इस अनुभान में यज्ञगाला ‘पञ्च’ और आग साध्य और धूम हेतु है तो धूम करण हुआ परन्तु अनुभिति के समय करण (धूम) नहिं रखा

तदुक्तम्—“सप्रसङ्ग उपोषातो हेतुताऽवसरसतया । निर्वा हे व्यक्तार्थवये पोषा संगतिरिष्यते” इति ।

४ मितेन लिङ्गेनार्थस्यपरचान्मानमनुमानमितिव्युत्पत्तिः ।  
(वास्तव्यायनमात्र्यम् १।१।३) अनुभीवतेनेनेतिषा ।

और करण मे विना कभी कार्य नहिं उत्पन्न होता तो, अनुमिति यहा नहिं होनी चाहिये, इस लिये अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान को हि करण मानना उचित है इतु करण नहिं है ॥

(गं०) साध्य किस को कहते हैं (उत्तर) जो हेतु से सिद्ध करनी हो वस्तु उसे साध्य कहते हैं । (गं०) पञ्च चक्र वस्तु है । (उत्तर) जिस स्थान में साध्य का जानना अभीष्ट हो, उसे पञ्च कहते हैं इस अनुमान प्रकारण में दृष्टान्त का जानना भी परम आवश्यक है जहाँ हेतु को देखकर साध्य का निश्चय किया हो उसे दृष्टान्त कहते हैं इसे उदाहरण से स्पष्ट करता हूँ यद्यो— “एवतो वन्निहमान् धूमात् महानमवत्” इस में पर्वतर्ती पञ्च है वर्णीकि—आग को इस में सिद्ध करना चाहते हैं और आग की सिद्ध करना है अतः वहसाध्य है धूम से सिद्ध करना है इस लिये धूम हेतु है और धूम और विद्धि का व्याप्ति व्यापक भाव महानस (लङ्घर) में निश्चय हुआ है अतः महानस दृष्टान्त है ॥ ६७ ॥

सिद्धविद्धिनोऽसशन्धदर्गमनुमानम् । तच्च ‘धूमोवद्धि-  
व्याप्य’ इति व्याप्तिज्ञानसेव, अच्च व्यापारस्ततीयलिङ्गपरामर्थः  
येषामते लिङ्गपरामर्गएवपुनरनुमितिकरणन्तत्रफलायोगःयद्विन  
क्षारण करणसिति नवीनमतानुसारेषैतस्यकरणहृषीमिधृष्ण विज्ञे-  
यम् ॥ याथभाद्येतु भकारान्तरेषानुमान विषेषानिर्दिष्टाः, पूर्ववत्,  
अवधत्, सामान्य तो दृष्टज्ञेति कारणलिङ्गकमनुमानं पूर्ववत् यच  
मेष्ठोन्नत्यादृष्टयनुमानं यचपुनःकार्येणकारणानुभानं तद्देष्व  
यथा “ वृद्धिविषपरीतमृदकेनद्या ॥ पूर्णत्वविषेषदृष्टवा सो  
तसोऽनुमीयते भूतादृष्टिः, इति । कार्येणकारणभिन्नलिङ्गकं मामा-  
न्यतोदृष्ट तृतीयम्, यच,—इदं दिभिरात्माऽनुमीयते । इदं  
दयोगुणाः, गुणाद्यद्वयस्तद्यनाः, इतरेषां पाधाद्यदेपास्थानं ॥

## व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः१ परामर्श उच्यते ।

टी०—अब परामर्श का लक्षण कहते हैं । “व्याप्यस्य” इत्यादि से व्याप्ति के अधिकरण का नाम व्याप्य है व्याप्य का अर्थात् साध्य निरूपित व्याप्ति ( अविनाभाव ) के आश्रय का अपक्ष में सदूभाव विद्यका बोध है वह परामर्श कहाता है जैसे “बङ्गि

---

आत्मेति । वात्स्या० १ ११ । ५ ननु “निर्गुणं निष्कलंशान्त मित्यादि अत्यात्मने निर्गुणत्वकथनात्मैथमिच्छादि गुणाथयत पात्तित्तिदिरिति चेन्न अत्यर्था परिज्ञानात् तथया निर्गता ‘निष्पद्धनः ज्ञानेच्छादयोगुणाद्याद्यादिवशाद् यमिन सनिर्गुणं इति तथाख्यानेन विरोधपरिहारसम्भवात् । न च ज्ञानत्वरूपं आत्मा कस्यचिदनुभवमित्तः । अहं जानामि—इत्यादि प्रतीत्याज्ञानाथयैवानुभवात् । अहं ज्ञानं—इति प्रतीत्यमावाच्चित्यलभनलपेन ।

१ व्याप्ति विशिष्टस्य ( इतीः ) पक्षेण सङ्ग वेगिष्टथायग्नि हि ज्ञानत्वं परामर्शत्वम् । सच परामर्शोदिविधः ‘पक्षेव्याप्य इति पक्षप्रकारको व्याप्यविशेष्यकः’, ‘पक्षीव्याप्यवान्’ इति पक्ष विशेष्यको व्याप्य प्रकारकरच । तर्चादी यथा ‘पर्वते वन्दिव्याप्योधुमः’ इति ज्ञानम् । इतीयो यथा ‘वन्दिव्याप्यधुमवान् पर्वतः’ इति ज्ञानम् । विवेचनं परामर्श इत्यपिकेचिदाचचते एतस्यच परामर्शानुमितिं प्रति व्यापारत्वं व्यापारं लक्षणाकान्तत्वादेव तथाहि—यंजनयित्वैव यस्य यज्जनकःवम्, सतस्य व्यापारः यथा—सन्निज्ञये जनयित्वैदेन्द्रियस्य प्रत्यक्ष्यनकृत्वम्, इति प्रत्यक्षे सन्निज्ञये इन्द्रियस्य व्यापारः । एवमेव व्याप्ति ज्ञानं परामर्शेजनयित्वैवानुमितिज्ञनयति, इति परामर्शर्यानुमितोव्यापारत्वम् । द्रव्यान्यत्वे, सतिभावस्वेदति, तत्प्रत्यक्षत्वेच सति तत्प्रत्यक्षत्वं व्यापारत्वम् ।

व्याप्तिवधुम् वानयं पर्वतः ॥ अथ—“वन्हि निरपित जो व्याप्ति  
उसका आशयको धूम उस वाला यह पर्वत है” इत्यात्मका अर्थात्  
व्याप्तिविभिन्न पक्षधर्मता ज्ञानपरामर्ग है जो कि अनुमिति रूप  
फल में व्याप्ति कहा है परन्तु व्याप्ति भी अन्यथा और व्यति-  
रेक रूप से दो प्रकार की है इसलिये परामर्ग भी दो भेद की  
होता है इसका चित्तार अन्यथा देखो यहा लालों को अनुपयोग  
समझ कर छोड़ दिया है ॥

**“व्याप्तिः साध्यवदन्यसिमन्तसंवन्धउदाहृतः॥६८**

टी०—अब व्याप्ति रद्धप का निरूपण करते हैं ॥ “व्याप्तिः”  
इत्यादि में साध्य स्थी विद्यमान जिसमें उसको साध्यवान् कहते हैं  
“साध्यवत्,” “अन्य,” साध्यवदन्य; ऐसे विद्यह में साध्यवत् पद

१ माध्यवत्तदाय निरुद्धलच्छण या माध्यवत्प्रति यं गिको-  
यः, तायचाभद्रेनान्यपदार्थैः क देगेमेदेऽन्वयः एवदेगान्वयमुररी  
लत्यैवैतन्नलच्छणविधानादितिभावः, भेदायच रथप्रेणाधिकरणे  
न्वयः, अधिकरणस्यनिरुद्धप्रतितत्वसंवन्धेन उत्तित्वे हत्तित्वायच  
प्रतियोगिताया च-वैऽन्वयद्विति तथाच “साध्यवत्प्रतियोगिय भेदा-  
धिकरणमिरुद्धप्रतित उत्तित्वाभावे व्याप्ति उत्तित्वाणं पर्वत्यसन्नम्  
साध्य साधनायने अनोपाधिकः संवन्धो वा । साध्याप्तिर्द्विविधा  
भन्वद्वयव्याप्तिः व्यतिरेकव्याप्तिरस्व तत्वान्वयः व्याप्तिरप्रिद्विविधा  
पूर्वप्रस्त्रव्याप्तिः मिहान्तःव्याप्तिरस्व पर्वत्तात् पूर्वप्रस्त्र व्याप्तिरवंव्य-  
माणाचनिरान्तेति तचेभयविधव्याप्ति ग्राहकमतु, उपाध्यमावप्रदृष्ट-  
जातित मांकारमहजनेत, भूयेदग्नेतजनितमंकार महजनेत साह-  
चर्यवाहिणा प्रत्यर्थेत्वं व्याप्तिरवधायैते । एवमनुग्रामावधिव्या-  
प्तिपाठको । तत्त्वागमेन “व्याप्तिरप्रहम्तु ॥ व्याप्तिर्वामहत्वायः  
“गत्वपदारप्रदृष्टव्या” । प्रदृष्टमत्तापेदानाप्ति ॥ ॥

से उत्तर जो पञ्चमी उसका अर्थ प्रतियोगित्व करना अन्य शब्द का अर्थ मेंदाविकरण है और अन्य शब्द के अनन्तर सप्तमी का अर्थ निष्ठपितत्व है 'तथाच साध्यवदन्यस्मिन् न हुत्तिर्यस्य अर्थं साध्य वाले से दूसरे में न हो "हुत्तिः" संबन्ध जिसका "सप्ताध्यवदन्या हुत्तिः" वह हुआ साध्य वाले से मिन्न में न रहने वाला उसका जो भाव वह साध्य निष्ठपित हेतु निष्ठव्याप्ति रूप संबन्ध कहा है । उदाहरण में लक्षण समन्वय प्रकार यह है "पर्वतीष्वन्हिमान् धूमात्" इस स्थल में साध्यवत्प्रतियोगिक भेद "वन्हिमन्न" धूत्याकारक भेद ही होगा इस भेद का आश्रय । तो वन्हिवाला स्थान कोई भी नहीं होगा क्योंकि रव में रव भेद नहीं रहता किन्तु वन्हि के आश्रयी से पृथक् जो वापी कृप तडागादि हैं वही होंगे उनम "हुत्तित्वं" अर्थात् रहना तो मोमशेवालादिश्चों का है हुत्तित्व का अभाव हेतु धूम में रहा तो लक्षण समन्वय हुआ ऐसे ही "धूमधानवन्हेः" इस अलक्ष्य व्यभिचारी में अतिग्राप्ति भी नहीं है क्योंकि यह साध्यवन्नम्" इस पूर्वीकृत भेद का अविकरण धूम गून्यतप्त लोह का पिण्ड भी है क्योंकि जबकि उसमें धूम नहीं है तो धूम रूप साध्य वाले महानसादिकों का भेद रह सकता है परन्तु उसमें हेतुभूत वन्हि का हुत्तित्व ही है हुत्तित्वाभाव नहीं हुआ तो अलक्ष्य में लक्षण के न घटने से पूर्वीकृत लक्षण अतिव्याप्त भी नहीं हुआ । परन्तु यह लक्षण केवलान्वयि म समन्वित नहीं होता क्योंकि "इदं वाच्य ज्ञेयत्वात्" अर्थ—यह नाम का विषय क्योंकि ज्ञान का विषय है इस अनुमान में जगत् पच है वाच्यत्व माध्य है आरजेयत्व इतु है परन्तु वाच्यत्वसारेपदार्थों में रहता है इस वास्ते माध्य वदन्य अप्रसिद्ध है उसकी अप्रसिद्धि

से गम्भीरपित हजित्व उत्तिष्ठामाव सुपर्णा अप्रसिद्ध  
तो चेष्टत्वद्य सद्य में सध्य को न घटने अव्याप्ति  
एकलिये आगे मिहान्त सध्य फरते हैं अथवा ..  
पर्याय में ॥६८॥

अथ वाहेतुम निष्ठुविरहाप्रतियोगिना ॥  
साध्येनहेतो रेकाधिकरणं व्याप्तिरुच्यते ॥६९॥

अधिकरण पर्वतमहानसादियों में घर्तने वाला जो अभाव वन्निह का अभाव नहीं धरमकर्ते क्योंकि अत्यन्ताभाव का प्रतियोगीक साथ विरोध है जब पूर्वीक अधिकरणों में वन्निहरूपपदार्थ है तो उसका अत्यन्ताभाव उनमें कैसे कहे इस लिये ऐसा अभाव घटाभावादि ही होगा क्योंकि वे घटादि उन पर्वतादि में नहीं है अतः उसके प्रतियोगी घटादि हुए अप्रतियोगि वन्निह है और वही साध्य है उसके अधिकरण पर्वत में हेतु धूमको रहना है इसलिये लक्षण समन्वय हुआ । और धूमवानवन्हों, महानसवत्, ऐसे व्यमिचारी रूप असडेतुमें भी लक्षण मंगत नहीं होता क्यैसाकि उज्ज्वल्यमिचारी में हेतु यन्हि हे और यन्हि के आशय लोहपिण्डमेधूमनहीं रहता किन्तु धूमाभाव ही रहता है तो धूमरूप साध्य प्रतियोगी ही होगया अप्रतियोगी नहीं रहा तो लक्षण समन्वय नहीं हुआ क्योंकि हमें हेतु के अधिकरणमें रहने वाले अभावका अप्रतियोगी साध्य चाहिये वह प्रकृत में नहीं हुआ । और “इदवाच्य प्रमेयत्वात् घटवत्” इस अनुमान में हेतु प्रमेयत्व है, और प्रमेयत्व का आशय सकल जगत् है जगत् में घटपट आदि सारे पदार्थों का अभाव रहता है, किन्तु वाच्यत्व का अभाव कही नहीं रहा क्योंकि वाच्यत्वतो सारे ही जगत् में रहता है एमेसाध्यवाच्यत्वके साथ प्रमेयत्वहेतु समस्त जगत् में रहता है तो अद्यापित इटमर्द और प्रमेयत्व सहेतु ही यथापि व्याप्तिमें वहुत विचार कर्तव्य है (अर्थात् साध्य में साध्यता वच्छेदण सबन्ध और धर्मादियों का निवेश तथा हेतु में हेतुता वच्छेदक संबन्ध और धर्मके निवेश कर्तव्य है) तथापि उम विचार की दृष्टह हीने से वालकों के लिये अनुपधोगी समझकर स्वाग दिया है ॥ ६८ ॥

सिषाध्यिपया शून्या सिद्धिर्यत्रनविद्यते ।

स पक्षस्तत्रवृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ॥७०॥

(१) अवपक्षता और (२) पक्षके स्वरूप को दिखाते हैं ॥

टी०—“सिषाध्यिपया” इत्यादि ग्रन्थमें जहा पर व्याप्ति ज्ञान परामर्श आदि सारी सामग्री अनुमान की हो, परन्तु साध्यका निरूपय पक्ष में होजावे, तो अनुमिति कभी नहो होती तो सार कारण रहे भी आर काय्य नहीं उत्पन्न हुआ, इससे किसी कारण की व्यनता से सामग्री में व्यनता जानी गई, वह कारण पहला है । कहुँ आचार्ये ‘ साध्य मन्देहः पक्षता’ चर्यात् साध्य

१ सिषाध्यिपा विरह विशिष्ट मिश्चमायत्वं पक्षता लक्षणम्  
अवेदंदेवोध्यम्—सिद्धैः(‘पर्वतो वन्निहमान्’ इति निरचय) मत्ये पर्वतो  
वन्निहमान् इत्यनुमित्यमृत्यत्तेः; विदिरनुमिती प्रतिवन्धका, मिदय  
भावोऽनुमितो कारणमिति वक्तव्यम् । एव सत्यपि, पर्वतादौ पक्षे  
साध्य निरूपये सत्यपि, मरुयाऽच्चमिषाध्यिपया’पवतो वन्निहमान्  
इत्यनुमिति दर्शनात् सत्र सिषाध्यिपा उच्चेजिकावाच्या तत्र पक्षता  
सम्पत्तये नियाध्यिपा विरह विशिष्टत्वं सिद्धेर्विगेषणम् । (२)  
पक्षता अयत्वपक्षस्य लक्षणम् । अनुमित्यद्वैरयत्वं पक्षत्वं वा इदस्य  
“गणां सूधनदिस्या कारक गगनस्वावच्छिक्षन विधेयता कानुमिति  
दर्शना हप्तादीनोत्तमा साध्य संदेहात्मक लक्षणं विशाय नवीने स्थिरी  
लक्षणम् । साध्य प्रकारक निरचय विगेष्यत्वं सपक्षत्वम् विरचयत्वं  
महान् सर्वनिहमदिस्याकारकः साध्या भाव प्रकारक निरचय विगेष्यत्वम्  
विगेष्यत्वम् विगेष्यत्वम् विरचयत्वं च दो वद्य भावयानित्याकारकः ।

कार्याभ्युक्त्यर्थविधिष्ट त्वं प्रतिवद्यत्वम् । प्रति वन्धक प्रति  
वन्धकत्वम् सूजज्ञत्वम् ।

का जो पत्त मे अनुमिति मे पूर्व मंशय है वही पत्तता है और उस पाना पत्त है उनका यह अभिप्राय है कि अनुमिति से पथम साध्य का सन्देह नियम से रहता है इस लिये उन स्थल मे साध्य का निश्चय होने से साध्य का समय (पत्तता) नहीं है इससे अनुमिति नहीं होती इस प्रकार से उक्त दोष को दर करते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है जिससे गृह के भीतर स्थित पुरुष को भी मेघ गर्जन से संदेह के बिना भी “गानं, मेघवत, गर्जनात्, इत्यादि स्थलों से मेघादि की अनुमिति देखी गई है किञ्च साध्य का प्रत्यक्षात्म निश्चय होने पर भी यदि अनुमित्सा अर्थात् मुझे अनुमित्यात्मक साध्य का ज्ञान हो ऐसी इच्छा हो तब भी अनुमिति होती ही है क्योंकि “प्रत्यक्षेणावगतेवि पदार्थेऽनुमानेन वमुहसन्तेतत्कर्दसिकाः” अर्थ—प्रत्यक्ष प्रमाण मे पदार्थ के निश्चित होने पर भी तार्किक उसे अनुमानु प्रमाण मे हो जानना चाहते हैं अतश्च अनुमित्सा मात्र भी पत्तत नहा ह उसीकि मध्य के गर्जने से बिना इच्छा के भी मेघ का अनुमान होता है को न होना चाहिये इस वास्ते सिद्धान्त मूल से दिखाते हैं साध्य के सिद्ध करने की इच्छाका नाम ‘सिपाधिय पा’ है उससे शून्य जो भिडि (प्रत्यक्षात्म निश्चय) अर्थात् भिपाधिया विरह विग्रिष्ट भिडि उसका जो प्रमाण वह पत्तता है यह जिससे रहे वह पत्त उसमे हेतुके वर्तने के ज्ञानसे अनुमिति होती है यह मूल कारिका का अर्थ है ।

**अनैकान्तो विरुद्धऽचाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः ॥  
कालात्ययापदिव्युश्च १हेत्वाभासास्तु पञ्चधा॥७१॥**

१ “अनुमिति तत्करणान्यतर प्रतिवन्धक ज्ञान विषयो

अब प्रसंग महति से हेत्वाभासोंका स्वरूप दिखाते हैं ॥

टी०—“अनैकान्तः” इत्यादि मुख अन्थ से अनैकान्त विहृद असिद्ध मत्प्रतिपक्ष, (प्रकरण सम) और कालात्यर्थापदिष्ट, (वाचित) यह पाच हेत्वाभास होते हैं विद्यादो के अनुभानों में दोष देने वास्ते और अपने अनुभानों में मारे दोष इटानेके लिये हेत्वाभास (दुष्टहेतुर्च) का जानना भी अभीष्ट है इसलिये हेत्वाभासों का निरूपण करना भी योग्य है इन पाचों का मिला दुष्ट लक्षण यह है, कि जिमका ज्ञान अनुमिति वा अनुमिति करण (व्याप्ति ज्ञान) का प्रतिवन्धक हो, ऐसे दोष वाले अनुभान की हेतु को हेत्वाभास (दुष्टहेतु) कहते हैं । जैसाकि छदोषनिवान् धूमात् इस अनुभान में वन्द्याभाववद्छद वाध वङ्गयभावव्याप्त्यज्ञान् छदमप्रतिपक्ष और धूमाभाव वद्छदः स्वरूपासिद्धि है । इनका विशेष निरूपण वियेष लक्षण में स्पष्ट होगा ॥

धर्मस्तदत्त्वं हेत्वाभासस्य लक्षणम् । पञ्चरूपोपन्नत्वाभाव सति तदूपेण भासमानत्वं च । पञ्चरूपाणितु—पञ्चसत्त्व सप्तत्वमत्त्वं विपञ्चमत्त्वं, अवाचितत्वं, अमत्प्रतिपक्षितत्वञ्चेति एषु केनापि रुपेण रहिताः केत्रिचिदनिवता हेत्वाभासः पञ्चधार गोतमेन प्रपञ्चिताः । “हेत्वाभास” मट्टग इति न्याय विन्दुटीकाया सच माहात्म्यं च पञ्चम्यन्त पद प्रतिपाद्यत्वेन । अयएव हेत्वाभासा इति काण्डादा जाचिरे तद्यथा—प्रसिद्धि, विरोधः, मन्दिरधत्वं अचेदमाकृतम्—आधमत्पति पक्षोत नस्यनन्त्वो तत्र वाध आश्रय मिहियादो अनेकान्तिकौपायदैवतस्यति मत्प्रतिपक्षोप्यन्यतरञ्च द्यापञ्चयादि भंगय माणादयन्त्रैकान्तिकादावेष पर्यावायति, इति । तदुलम्—“प्रिया निः सदिग्धमन्तिहकाराययोऽप्यवीत्” ॥

आयः॑ साधारणस्तु स्या॒ इसाधारण कोऽपरः ।  
तथैवानुप॑ सहारी॒ विधाऽनेकान्तिरुभवेत् ॥७२॥

थी०—अब हेत्वामासी के विशेष विभाग इष्टाते हैं “आधा॒ इषि॑” पूर्वोल्ल उन पञ्चविध हेत्वामासी म अनैकान्तिक (ठ्यमि॑ चारी) तीन भेद का है प्रथम साधारण, द्वितीय आसाधारण, और तृतीय का नाम अनुपसहारी है ॥ ७२ ॥

यः सप्तके विष्कंच भवेत्साधारणस्तु सः ।

यस्तू भस्माद्वयावृत्तः सत्वसाधारणोमतः ॥ ७३ ॥

१ साध्याभाववहृत्तिवं साधारणत्वम् ।

२ सर्वमयज्ञ विष्पच्च व्याहृत्तिवं साधारणस्य लक्षणम् ।

३ वस्तुमात्र पद्धतिवभनुपर्वहृत्तिवं तद्वल्यन्तु “सर्व याद्यं पमेयत्वात्” अब सर्वस्यैव पद्धतिव व्याहृतिरेक हृष्टान्तो भास्तीति पमेयत्वं हेतुरन्प्रसहारी । एतज् ज्ञानस्य व्याप्तिं संशय जनकतया व्यतिरेक व्याप्तियह प्रतिबन्धः फल मिलितहृत्वम् । वस्तुतस्तु, अस्यन्तमादाप्रतियोगि साध्यकत्वं मनुप महाद्वित्वं तद्वच प्रकृत इती सुच्छाघटीतीति लक्षण समन्वयः ॥

४ अच्छयुत्पत्तिः, एकस्य साध्यस्य तद्भावस्यवायोऽन्ताः पहचारोऽव्यभिचरितसहचारएकान्तः, तस्येत्यैकान्तिकः (गो०४० १ । ४५) तदन्योऽनैकान्तिकः । अयमेव सव्यभिचार पदेन गोयते, वैशेषिकमतेतु सम्बद्ध इत्युक्त्यते इतिज्ञेयम् । लक्षणन्तु सव्यभिचारात्मकदीपद्वत्त्वम् । न्यायमाध्येऽपि निदर्शनं “नित्यायवदी॒ सप्तमंत्वात्”—नित्यत्वमध्येकोऽन्तः । अनित्यत्वमध्येकोऽन्तः । एकस्मिन्नन्ते विद्यत इत्यैकान्तिकः । विपर्यादनैकान्तिकः । इम याम्त व्यापकत्वात् ।

टी०—जो हेतु सप्त 'निरिचत साध्यशाले' विषय निरिचत साध्याभाषणाले, मरह वह माधारण कहा जाता है। और जो हेतु सप्त विषय दोनों में नहि वर्तता किस्त के बाहे पक्षमात्र में ही रहे वह असाधारण कहा जाता है। ये उल्लं तीनों भेद व्याप्ति ज्ञान के प्रतिवर्धक हैं इनक उदाहरण क्रम में "धूमशान् वन्हेः" इस अनुमान में धूम शून्य सोइपिएड (विषय) में तथा महान स (सप्त), में बन्ह का निरचय है अतः बन्ह रूप हेतु माधारण हे तो "धूमयन्थावृत्तित्वः" स्वरूप व्याप्तिज्ञान का प्रतिवर्ध हुआ है क्योंकि विषयहृत्तित्व रूप व्यभिचार विषयक ज्ञान छोने से व्याप्तिज्ञान का उदय कादापि नहि जीता और "गद्दीनित्यः गद्ददन्वात्" इस अनुमान में गद्ददत्वहेतु सप्त गगनादि और विषय घटादिकी में उत्ताप्त है किस्त पक्ष (गद्द) मात्र में रहता है अतः 'गद्दत्व' अमाधारण उ यद हतु "माध्यतामाधिकरण्य" रूप व्याप्तिज्ञान का प्रतिवर्धक है व्योक्ति उतुम जब साध्यवद्वृत्तित्व विरचय हुया तो माध्यवद्वृत्तित्व ज्ञान कभी नहिं होगा ॥ ६५ ॥

इदन्तु योध्यम्—यद व्याप्तियहू प्रतिवर्ध नक्षेजपथी जनकत्यन माधारणादैनामेक इत्याभाभ्यन्तम् । तत्र माधारणेन व्यापकत्यस्य अभिव गित्यस्यता, अमाधारलेन मासानाधिकरण्यस्य अमुपवहारिणाव व्यतिरेक व्य, पूर्वदय प्रतिवर्धात् माधारणादो अत्यन्त ममन्त्रय, । अमुमिति हरण उप दित ज्ञान प्रतिवर्धक ज्ञान विषयतयाच इति ५, स गुमान्य लक्षण सगति इति । यद्यपि वस्त्र माध्य विकल रवरूप संगतिमाति माधारण लक्षणाद्यि तथापि दूषक ता वीज भेदादिसेपासम्मतःय इति समाप्त मेयानाशुलम् ।

## तथैवानुपसंहारी केवलान्वयि पक्षकः ।

टी०—ऐने जिस हेतु का पक्ष केवलान्वयि हो वह अनुपसंहारी कहा जाता है “उदाहरण—“ सर्वं सभिष्ठेयं प्रमेयत्वात् ” इत्यादि स्थलों में वात् मात्र की पक्ष होने से साध्य के साथ हेतु का सामानाविहरण्य गद्या करने के लिये कीर्ति स्थल शेष नहीं है क्योंकि व्याप्ति गद्यमूलि ही तो हजार्ण छोता है एवं सामानाधिकरण्य अह रूप कारणी भत व्याप्ति ज्ञान के न होने से अनुमिति रूप कार्य भी ऐसे स्थलों में नहीं होता यह प्राचीनों का मत है इस पक्ष को त्याग करके नवीन “केवलान्वयिसाध्यकृत्य” लक्षण करते हैं उनका यह तात्पर्य है कि यद्यपि पक्षातिरिक्त स्थल व्याप्ति गद्य का न भी मिले तथापि पक्ष के एक देशमें ही सहचार यह हो जाएगा तो कुछ इनि नहीं है अब नवीन लक्षण में अर्थ जिस हेतु का साध्य अत्यन्ताभाव का प्रतियागी न हो उसे अनुपसंहारी कहते हैं उस उदाहरण्य में वाच्य-त्वं सारे जगत् में रहने वाला माध्य है यह निश्चय है कि वाच्यत्वं का अभाव अप्रमित है तो वाच्यत्वाभाव का व्यापक जो अभाव उभका प्रतियोगी प्रयत्नस्त्र है, इस व्यतिरेक ज्ञान को नहीं होने देगा ।

**यः साध्यत्वनि नेव। स्ति॑ सपि॒ रुद्ध॑ उदाहृतः॥७४॥**

१. माध्य व्यापकी भूता भाव प्रतियागित्वं विहृत्य लक्षणम्

पक्षविगेत्यक माध्याभाव व्याप्ति हेतु प्रकारक ज्ञान-पक्षविगेत्यक माध्य प्रकारकानुमिति प्रतिबन्धः फलम् । एवं सत्प्रतिवक्तव्यः । विहृत भूतप्रतिवक्तव्योविगेत्यत् हेतोरेकत्वेन हेतो हित्वेन चावग्नतय । माध्याभाव वाप्ति प्रकार हेतुविहृदः । साध्या

टी०—जो हेतु साध्य के आशय में न रहे अर्थात् साध्या भाव के साथ व्याप्ति रखे उसकी विवर कहते हैं, केसे “अयं गीरश्वत्वात्” यहा पर लहा २ अश्वत्व छ वहा २ गात्वाभाव ह इस प्रकार को साध्याभाव के साथ व्याप्ति हीने स अश्वत्व हेतु विवर है इस हेतु का ज्ञान मात्रात् अनुमिति का प्रतिवर्णवक है कथीकि गीत्वाभाव के माध्य व्याप्ति वाले अश्वत्ववत्ता को ज्ञान हीने पर गात्वनिश्चय नहीं हो सकता ॥ ०४ ॥

**आश्रयासिद्धिराद्यास्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ ॥  
व्याप्यत्वा सिद्धिरपरास्यादसिद्धिरतस्त्रिधा ॥७५॥**

टी०—अब अमिदि का विभाग कहते हैं “आश्रयासिद्धि” इत्यादि पन्थ से अमिदि तीन प्रकार की है प्रथम का नाम आश्रय सिद्धि द्वितीय का नाम खण्डपासिद्धि और तीसरी का नाम व्याप्यत्वासिद्धि है ॥ ०५ ॥

**पक्षासिद्धिर्यत्र पक्षा भवेन्मणिमयोगिरिः ॥**

भाव व्याप्य प्रति हेतुमत्पद्म. मत्प्रतिपद्म इति विवेकः । विहेतु साध्याभाव साधका हेतु; साध्य साध्यकृत्वेनोपन्यस्त इत्य सामर्थ्यं मृचनभवीत्यर्थं परत्ववित्तेन ।

**१ आश्रयासिद्धिराद्यतमस्वम सिद्धिभासान्द लघणम् ।**  
व्याप्ति—पक्षपर्मेता न्यतार रहितो हेतुसिद्धः । पक्षपर्मेता साध्य सम इत्युद्धते । ( वात्याद १।३।४८ ) उदयमासार्यास्तु पक्ष पर्मेता ज्ञानाभावः व्याप्याय पक्षपर्मेता प्रमितिः सिद्धिभासार्यो वाऽमिदि रित्यादः । परामर्थं प्रति वस्त्रपक्ष ज्ञान विषयो धर्मो च ।

टी०—जिस स्थल में मणिमय पर्वत को पक्ष करकी उसमें बनिह की अनुमिति की जाय वहा पर 'पचासिहि' पर्यात् आश्रयासिद्धि होती है जैसे "मणिमय पर्वती बनिहमान् धूमात्" इसका लक्षण यह है कि पक्ष में पक्षतावच्छेदक का अभाव आश्रयासिद्धि कहो जाती है उक्त उदाहरण में पर्वत रूप पक्ष में मणिमयत्व नहीं है क्योंकि मणिमय पर्वत अपसिद्ध है एव "गगनारविन्दसुरभि-अरविन्दत्वात् सुरोजार विन्दवत्" इत्यादि स्थल में भी आश्रयासिद्धि जाननी चाहिये यहा पर भी 'गगनीयत्व' अरविन्द में नहीं इसका ज्ञान भी अनुमिति का प्रतिबन्धक है क्योंकि अरविन्द में गगनीयत्वाभाव निरिचत होने पर गगनीयत्व विशिष्ट अरविन्द में सौरभ्य की अनुमिति कदापि नहीं होगी ॥

### इदो द्रव्यं धूमवत्त्वादत्रा सिद्धि रथा परा ॥७६॥

टी०—"इदो द्रव्यं धूमवत्त्वात्" इत्यादि स्थल में रवर्ष्य सिद्धि है क्योंकि पक्ष में हेतु को न रहने को स्वरूपासिद्धि कहते हैं, और उसको अधिकारण को स्वरूपासिद्ध जानना चाहिये तो प्रक्षत हेतु धूम का पक्ष इद में अभाव है इसका ज्ञान परामर्श का प्रतिबन्धक है यदा हेतु को अभाव विशिष्ट पक्ष है ऐसा ज्ञान ही जानने से पक्ष विशेष्यक हेतु प्रकारक परामर्श कदापि नहीं ही सकता ॥ ७६ ॥

### व्याप्यत्वासिद्धिरपरानीलधमादिके भवेत् ॥

टी०—"पर्वतो बनिहमान् नीलधूमात्" इत्यादि स्थली में व्याप्यत्वासिद्धि नामक तृतीय असिद्धि होती है, प्रक्षत उदाहरण में नीलधूमत्व गुणधर्म होने से इत्यावच्छेदक नहीं होसकता क्योंकि जब गुणधर्मत्व ही काघवतक युक्त हेतुतावच्छेदकवत्त

क्षक्षता इतो नीलधूमत्व को मानने में गोरक्षापति असहा ह हेतु में  
इतुता वद्येदकक भ्रमाव को व्याप्यत्वा मिदि कहते हैं तदान् को  
(१)व्याप्यत्वानिह कहते हैं जैसे निखल उदाहरणमें अथवा "पर्वती  
विनिःसान् वाच्चसयधूमात्" यहा पर क्लमशः व्याप्यतावच्छद  
क्षत्वेन अभिमत नील धूमत्व यहा वितीय उदाहरण में काक्षवन्  
सयत्व, येदानी धमें हेतु धूममें नहीं हैं तो स्वत्व समन्वय द्विगया ।  
इसकान्नान भी परामर्गका प्रतिश्वन्धकह धूममें नीलधूमत्व नहीं है

---

अथवा काञ्चनमयत्व नहीं है इस ज्ञान के होने पर " वाञ्छ  
ध्याएय नील धूमवान् पर्यतः "

अथवा "वन्दिष्ट्याप्यकाञ्चनमयधूमवान् पर्वतः इत्यकारक  
परामर्श नहीं हो सकता, वर्णीकि यह परामय धूम में नीलधूमत्व  
अथवा काञ्चनमयत्व सबन्धावगाही है ॥

**विरुद्धयोः परामर्शे हेत्वोः सत्प्रतिष्ठापक्षता ॥७७॥**

टी०—परस्पर विवर हेतुयीकि परामर्शमें मत्प्रतिपक्ष होता है।  
पर्यात् जिम हेतु को साध्य के अभाव मिड करनेवाला हितीय हेतु  
हो वह हेतु सत्प्रति पक्ष होता है जैन 'पवतो वन्दिमान् धूमात्  
महानसवत् 'पर्वतो वन्दिमावान् पापाणमयत्वात् कुड्ययत्' यहाँ  
दोनों अनुमानों में दोनों हितीयों को परस्पर साध्याभाव साधक  
होने से परस्पर मत्प्रतिपक्षता है इस का ज्ञान साधात् अनुमिति  
का प्रतिबन्धक है वर्णीकि लब 'वन्दिष्ट्याप्यधूमवान्' वन्दिमाव  
ध्याएयवारच, पर्वतः इस प्रकार के दो परामर्श हुए तो एक से भी  
प्रतिबन्धित नहीं होगी । ७७ ।

**साध्य इन्द्र्यो यत्र पक्ष स्त्रस्तो रवाधउदाहृतः ।**

**उत्पत्ति कालोन घटे गन्धादिर्यत्र साध्यते ॥ ७८ ॥**

(१) साध्याभाव साधक हेतुक्षत्वं यस्यम् मत्प्रतिपक्षः अत तु स्य  
बलयोरिष भत्प्रति पक्षत्वम्, नानुन्य बलयोरिति नियमः तेन  
एकतरच तर्कादि बलमहत् तायैवान्यतरवाधकता इति बोध्यम्  
मन् ( विद्यमान् ) प्रतिपक्षो विराधि ध्याएत्यादि मत्तया पराम  
उद्यमाणस्य हेतो रमी मत्प्रतिपक्ष इति विषदः ।

**रवाधः ( हेत्वाभासः, हेतु दोष ) तत्सञ्जयन्तु 'साध्या**

जिस अनुमान में पक्ष साध्यमे रहित हो वहाँवाध दोष होता है जैसे “उत्पत्तिकालीनो घटः गन्धवान् पृथिवीत्वात्” इस अनुमान में उत्पत्ति कालावच्छेदेन घट रूप पक्ष में गन्ध रूप साध्य की सिद्धि इष्ट है परन्तु उस चरण में घट में गन्ध गुण नहीं होता यद्योकि उत्पत्ति कालमें द्रव्य निर्गुण उत्थन छोता है यह पूर्व कह चुक्हेष्टदाहरणान्तर जैसे “वस्त्रिहरनुष्णो द्रव्यत्वात् चलवत्” यहाँ पर वन्धुपद्म में भूनुष्णत्वाभाव उत्पत्त्व का त्वगित्वद्य से यहाँ होने से द्रव्यत्वहेतु वाधित है इस का ज्ञान भी मानात् अनुमिति का प्रतिवन्धक है यद्योकि प्रत्यक्षादि में जब साध्य की वाध्य का निश्चय हुआ तो माध्य की अनुमिति कभी नहीं होगी जिससे सद्भाव क्लीकिक निर्णय सदस्त्र वुहि का प्रतिवन्धक होती है ॥ ०८ ॥

**इति कारिकावली रहस्य प्रकाशोऽनुमानपरिच्छेदः॥**

भाववस्त्र प्रमादिवयवत्वम् । तथाच—माध्याभाव पसैवदीपः । साच प्रमात्वेन ज्ञातैत नवद्यप सती साध्याभाव वत्पक्षको हेतुर्वाधित

प्रयसेव वाक्तात्यया पदिष्ट इति फटपते कालश्य (अनुमान कालरप्त्यर्थः) पत्यदेष्ट पदिष्टो निर्दिष्टःकालात्यया पदिष्टः इति ।

## कारिकावलीरहस्यप्रकाशसहिता ।

(१) अब अवसर सङ्खति के अभिप्राय से उपमिति का निरूपण करते हैं ।

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम् ।

साहश्यधीर्गवयादीनां यास्यात्साकरणमतम् ॥७९॥

वाव्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्थापारउच्यते ।

गवयादिपदानांतु शक्तिधीरुपमाफलम् ॥८०॥

टी०—कोई नागरिक पुरुष जिसने कि बन के भूग कभी नहीं देखे थे जिन में से एक गवय के विषय में किसी बन के रहने वाले मनुष्य से उसने सुना कि प्रायः गौ को नाई जिसके भड़ा हो, उसे गवय कहते हैं । दैवसंयोग से घड़ी कभी बन में चला गया, वहा उसने गौ के तुल्य एक भूग देखा, उस भूग के भड़ा गौ के अड्डों को नाई देखके उसे उक्त बात का स्मरण हुआ, कि गौ के तुल्य अड्डों वाला भूग गवय होता है, पीछे से उसे निश्चय हुआ, कि ऐसे २ भूगों को गवय कहेंगे इसी को यत्प्रिय कहते हैं इस भूग के अड्डों का गौ के अड्डों को नाई जानना उपमिति का करण है, इसी साहश्य ज्ञान को (१) उपमान कहते हैं, उक्त बाव्य का स्मरण उपमिति में व्यापार है, और शब्दज्ञान (ऐसे २ भूगों को गवय कहेंगे) उपमिति है । और अलंकार शास्त्र में जिसे उपमा कहते हैं, यहाँ भी उसी को उपमित कहत है । केवल इतना ही भेद है, तुकि वहाँ साधारण धर्म उपमा है और

(१) वाव्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानस्यदेतुवेन वाव्यार्थज्ञानस्यादेनिष्पद्यमाणतयाततः प्रागेषोपमिति विचारो युक्ताइति ।

यही साधारण धर्म का ज्ञान उपमिति है जो धर्म उपमान और उपमेव दोनों में रहे, उसे साधारण धर्म कहते हैं ॥ ७८ ॥ ८० ।

**हुति कारिकावली रहस्य प्रकाश उपमानपरिच्छेदः**

(२) उपमानजन्य गद्यशिल्पानुपमायाः (उपमितेः) सच्चषम् लिद्यन्तम्—“गवयोगवयपदवाच्य,” । (३) उपमानस्त्रियन्तु प्रसिद्धमाध्यात्मात्माध्यनम् उपमागम् । उत्तरम् “प्रसिद्धस्तु माध्यादपमिताय साधनं स् । उपमुनं ममाद्यात् ययागौमेव यस्तया ॥ १ ॥ प्रसिद्धस्य पूर्वपमिताय गवादेः साध्यात् साहृदयात् तज्ज्ञानात् साध्यायगवयादि पदवाच्यत्वाय सोधनं प्रियंत इत्याहारेष्व वर्णनश्च वर्णनश्च एव अद्यासाध्यसाधनस्त्रियकरण रुद्गुडा वर्णनश्चमिषेदम् । गोत्रहृगोगवयपदवाच्य इत्याकारक वाचयाद भी माहृश्याविन्न विषयेष्वक गवय पदवाच्यत्वमकारकं यज्ञानं आयतेतदेवकरण (उपमानं) करते । माहृश्य प्रमाकरण मिति वेदान्तिः । ३१ अहारिकाम् “माहृश्यप्रतियोगि, उपमानम् । यथा “अस्ति इव मुपमित्यादो अन्द्र उपमानम् । गाटिद्वारात्, माधारेष्वस्त्रियेनेपदिताप्रसिद्धेऽदश्वम् । इत्याहुः काषादाः स्त्रियारेष्व, उपमानस्य प्रमाणान्तरावर्त्तिः रजोकुर्वन्ति, तथाहि पदवाच्यत्वायाद्य माहृश्यादि परामगांश्वदवाच्यत्वं प्रयानुमिति रेतानोन्नपमानं पमानांतरमित्याहुः । यथा—ग-

अब श्राद्ध और उपज्ञान की परस्पर उपज्ञीयापज्ञीवक भाव  
रूप सहायति के अभिपाय में शाद्द बोधका निष्पत्त करते हैं।

१८ पदज्ञानन्तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधाः ।

टो—“पदज्ञानं” इत्यादि ग्रन्थ से अब मूलकारक शाद्द  
बोधको प्रकान्त करते हैं शाद्द बोध में पदज्ञान करण है;  
और पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति उसमें व्यापार है अर्थात् शब्द  
न्तरमवश्यमेष्टव्यमिति किञ्च, उपमितेः प्रत्यचादि प्रमितिभ्यौ  
तिरिक्तवाद् विलक्षणोपमिति करणहत्रेन पृथग्वशतयाचष्टयक्षमरये-  
ति समक्षत मवदात तदुक्तम्—तस्माद्य सगवयो नामेस्येवंविधाम-  
तिः । उपमानैरुक्तन्येव न प्रमाणेन्तरोद्दवा ॥१॥ तच्चेष्टपमानं चि-  
विधम् । माद्य विगिष्टविएड ज्ञानम्, असाधारण धर्मविशिष्ट  
पिण्डज्ञानम् देखम्य विशिष्ट विएड ज्ञानस्त्वेति । तच्चाद्यम् गो  
साद्य विगिष्ट पिण्डज्ञानम्, द्वितीयम्—खुर्दम्ग ( गेडा )  
ज्ञानम् अत्रासाधारण धर्मरच नासिकालसदेक युद्धत्वम्, इति  
प्रेयम् तृतीयम्—उष्टुप्ज्ञानम् । अत्रचेष्टपम्यतून्नत षष्ठ दीर्घ  
प्रीवादि ज्ञान मिति ।

१९ गति लक्षण्यान्यतर हृत्यापदार्थं प्रत्यय जनकत्वं पदस्य  
संधापम् । तच्च न्यायन्येव द्विविधम् । मुख्यम्, गोणंच । यद्वल्लि  
हृत्यायमर्थम् पृथ्यापयति तत्सिमन्नर्थं मुख्यम् । यथा गोघटादि  
व्यवत्युपस्थापकं गोघटादिपदम् । मुख्यमवि चतुर्विधम् । यो-  
गिक्तम्, रुठम् योगरुठम्, योगिकरुठञ्च चेतितचाद्यम—पाचकादि  
पदम् । द्वितीयं ज्ञान्याद्य वाचकं विप्रपदम्, गोमण्डपादिपदं च, तृतीयं  
पंकजादि पदम् । चतुर्थं मुद्दिदादि पदम्, इति । यत् लक्षण्या यमर्थं  
मुपस्थापयति तत् तसिमन्नर्थं गोणम्, जात्यग्निकैँ, इति च उच्यते  
यथा गङ्गाया घोष इत्यत्र लक्षण्याद्यतीरोपस्थापकं गङ्गापदम्

के हारा जो वाक्यार्थ का ज्ञान हो उसे शास्त्र बोध कहते हैं, परंतु पढ़ी के जानने के बिना वाक्य और वाक्यार्थ का ज्ञानान्वय अर्थ समझे इस लिये शास्त्र बोध में पद का ज्ञान करण (साधन) है परन्तु विना व्यापार के साधन कुछ नहि कर सकता, इसलिये शक्ति वालच्छाण के हारा जो पद से अर्थ का ज्ञान हो, वह शास्त्र बोध में व्यापारे है इतना अवश्य जानना कि ज्ञायमान पद करण नहि है किन्तु पद ज्ञान हो हो सकता है, अन्यथा मौनि प्रकृप निर्मित इलोकमें शास्त्र बोध नहीं हुवा चाहिये तात्पर्य यह है कि शब्द मात्र को शब्द भाष्ट होने से “पद” भी तो शब्द विगेष हो दे परन्तु जब मौनिरचित इलोक अथवा लेख इत्तादि चेष्टा से दूसरे को बोध दृष्ट होता है तो वहां पदव्यवणाभाव दशा में भी शास्त्र बोध रूप फल के उत्पन्न होने से व्यभिचार पड़ता है इस लिये कहते हैं, पदज्ञान करण है ज्ञायमान पद नहि है ॥

### ४ शास्त्रबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी। ८१

टी०—पद शक्ति ज्ञान सहकारिकारण है और ऐसे स्थानमें शास्त्र बोध स्वरूप फल होता है तात्पर्य यह है कि कुचित् शक्ति

(१) ‘शास्त्र बोध लक्षणन्तु, शक्ति लक्षणान्यतर संबंधेन पदः जन्य पदार्थस्मित्वावच्छन्न कारणतानिरूपित कार्यत्वम् शास्त्रबोध प्रक्रियाचेत्यमवगमन्तव्या—पथम् गवादि पदानां गवादौ ‘गवादिर्गवादि पद शब्दो लक्ष्यी वा’ इति सम्बन्ध ज्ञाने, ततः कालान्तरे, कोनचित् ‘गामानयत्वम् इत्युक्ते गवादि पदेभ्य एक सहनिधि ज्ञानमपरस्मवन्विवस्मारकम्, इति न्यायेन गवादीनर्थान् रमरतिं आकांचादीज् जानतस्तदनन्तरं ‘गोकर्मकानयनानुकूलं छतिमांस्तवम्, इति शास्त्रबुद्धिजीयते । सञ्चशास्त्रबोधो वैयाकरणां

ज्ञानप्रोर कहीं सच्चाज्ञान भी शाइद बोधमें कारण है। (ध०) यति  
किसे कहते हैं। (८०) पठ शब्दमें सूचस बना हुआ कपड़ा जानमा  
और पर्वत शब्द से पथरेली ऊँची भूमि जाननी नदी शब्दसे जल  
की धारा का प्रवाह जानना इत्यादि प्राचीन संकेतको शक्ति कहते

---

मते धात्वय मुख्य विशेष्यकः । नैयायिकास्तु प्रथमान्तर्य मुख्य  
विशेष्यक एवज्यायान् इति प्राप्तुः । तचादीयथा—‘चेचेष सुप्यते  
इत्यादौ ‘चेचकत्तुः स्वापः’ इति क्रिया मुख्य विशेष्यकः सर्वतत्त्व  
सिद्धोबोधः । ‘पश्य मृगोधावति’ इत्यादौ सृगाभिन्न कर्त्तकं धावनं  
पश्य’ इति क्रिया मुख्य विशेष्य को बोधः । न्यायनये यथा—‘घटो  
न भवति पठः’ इतिवावधात् घटभेदवान् पठः इतिप्रथमान्ते मुख्य  
विशेष्यको बोधः । तचनैयायिकानामिदमाकृतम् । “प्रयातिपुरुषपरत  
स्य चरणाधभिवादयेत् ।” अत्र पुरुषकर्तृको वर्तमान कालिक उत्तर  
देशसंयोगानुकूलो व्यापार इति क्रिया मुख्य विशेष्यकः शाइद बोधः  
शाइदकामते भवति । तत्र सर्वादीनामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्व  
नियमेन तद्वद्देन प्रयाण बोधो भविष्यति, इतितत्त्वं बलिध चरण  
प्रसिद्धिरित्यसगतिर्भवेदतसताकिंकैर्वर्तमान कालिक प्रयाणकर्ता  
पुरुष इति प्रथमान्तमुख्य विशेष्यकः शाइद बोधः स्वीक्रियते । आ-  
एयातस्यकर्त्तरि कर्मणि च शक्ति दिति शाइदकाः । क्वास्यलिरिति  
नैयायिकास्तु तेषामयमाययो यदिकर्त्तरियतिः स्वीक्रियेततद्विषय-  
पथतावच्छदकं कृतिर्भविष्यति सा पुरुषभेदाद्विनेति गौरवं स्यात्  
यदिनामक्ती भन्येत तदा अत्यतावच्छदकं कृतित्वं तस्य च आति  
रूपतयैषधमिति क्वाघवं यत्र पुनः, रथो गच्छतोत्यादौ क्वातेषां धरतच  
व्यापारादोलच्छणा, इत्यादुः । अतस्तदनुसृत्यैषकैचिद्विषयमति

हे इसी गति के हारा सही पद से अर्थ का ज्ञान हो, तो उस पद को शब्द और अर्थ की शब्द कहत हैं, (अ०) शब्द बोध किसे कहते हैं (अ०) पद ज्ञान हो करण जिस का ऐसे ज्ञान को शब्द बोध

दैश्वार्यगाढ़बोध प्रकाराः प्रदर्शन्ते तथाहि कर्त्तव्यात्तस्यले  
(चेच्चःपचति) 'पाकानुकूलकृतिमारचैतः' इतिशाढ़बोधः । कर्मणि  
(चेच्चलपद्यतेतएडुलइत्यादौ । तृतीयाया आधियत्वमर्थं, फलावच्छ  
ज्ञनव्यपारोधात्वर्थः आत्मात वलारच कृतेत्तर्माः तथा च—चेचति  
ष्ठक्तिनन्यपाकजन्यफलशाली तएडुलः, इत्यन्वयबोधः । देवदत्तो  
आमगच्छति इत्यच—हितीयाया अर्थः कर्मस्त्वम् धातोरर्थीगमनम्  
जनकत्वं संसर्गमर्यादियालभ्यम्, लटोवर्तमानत्वम् आत्मातस्यकृतिः  
तत्संबन्धः संसर्गमर्यादियालभ्यः । एकवचनाद्युपस्थापितमकर्त्तव्यादि  
सर्वच प्रयमान्तपदोपस्थापितेऽन्वेति । , एवंच—प्रामकर्मकग  
मन जनक वर्तमानकृतिमान्, एकरूपविशिष्टो देवदत्त इत्यन्वयबोध-  
रथीगच्छति' इत्यच—गमनजनकवर्तमानव्यापारवान् रथइति  
बोधः, भावपत्ययेतु, 'देवदत्ते न सुप्यते' इत्यस्य 'देवदत्तहृतिकृति  
जन्यःस्वापः' ॥

सच शब्द बोधोदिविधः, यथोर्योदयथार्थरच । तत्रायः शब्द  
प्रमा साच यथा 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इत्यादि वाच्यार्थं गो-  
चर यथार्थ ज्ञानम् । द्वितीयः अविनन्नासिच्छति' इत्याद्योर्य वाच्य  
जन्यः शब्दबोधः । द्वितीयोऽपि पुनर्द्विधः, भेदान्वयं विषयकः,  
अभेदान्वय विषयकरच । तत्रायो 'रात्रः पुरुष 'इत्यादि वाच्यजन्यः  
द्वितीयो यानीलोघटइतिवाच्यजन्यः अभेदान्वय बोधं पति, समान  
सिभक्तिसिङ्गवचनकर्त्तव्य प्रयोजकम् इति सामान्यनियमोनिश्चेत्स्यः ।

कहते हैं उसी को ही वाक्यार्थ (४) ज्ञान भी कहते हैं वैमे 'गोमा  
मय' इति, इस वाक्य से ऐसा शब्द बोध होगा कि 'गोकर्मकानय  
नानुकूल छतिमास्त्वम्, एवं चैचः प्रचति देवदत्तो याम गच्छति  
इत्यादि स्थल में भी ज्ञान लेना। ८१।

### लक्षणाशवच्य संवन्धस्तात्पर्यानुपपत्तिः ॥

टो—अब वलया को कहते हैं "लक्षणा" इत्यादि पन्थ से  
शब्द अर्थ के सम्बन्धको लक्षणा कहते हैं और वह जहा वला  
का तात्पर्य वाच्यार्थमें न बने वहा पर हुआ करती है और उस

(२) 'अस्मात्पदादयमर्योद्दृश्यः' इत्याकारिकेश्वरेऽङ्गेव  
शक्तिः । नव्यास्तु इश्वरे च्छेवनशक्तिः, किन्तु, अभियुक्तसंकेतमाच  
शक्तिः, इतितेन आधुनिक संकेतितेदिसाऽस्ति, इतिवद्दति । तथाच  
न्यायमात्र्ये—अद्यक पुनरय ममयः, अस्यशब्दस्येदमर्यजातमभिधेय  
मित्यभिधानाभिधेयनियमनियोगात्सिमन्तुपयुक्ते शब्दार्थमप्तयो  
भवति, २। १। ५४ । इति । अचचमतमेदः जात्याकृतिविशिष्ट-  
व्यक्तौ शक्तिः, सप्तदायविदोनेयायिकाः प्राहु । जात्याकृतिव्यक्तिपु-  
तिस्तुपुशक्तिः, (शक्तिव्यम) इतिशान्तिदिका भन्यन्ते । आक  
तावेषशक्तिः, इतिपतञ्जलि प्रभतय 'आह' । जातावेषवशक्तिव्यक्ति-  
साभस्त्वाचेपात, इतिप्राभाकराः । 'व्यहृथाकृतिजातयस्तपदार्थः  
इतितुम्यायदर्थने २। २। ६८ ॥

(१) न्यायनये—स्वशब्द संबन्धीलक्षणा । तर्थदस्तु य लाक्ष-  
णिक पदं ( "यथा गङ्गायाचीप " इत्येवं गङ्गायदम् ) तथा शब्दः  
(पश्चात्) तन्मनवन्धु, संयोग ममशयादिव्यायायर्थं याद्याः । सच  
संवन्धः ग्रादनिष्ठपितोऽप्तिष्ठ श्वाद्वयोऽप्यप्येवः । श्वाद्वार्थमेः  
संवन्धः ॥

लक्षणा उत्तिसे प्रतीत होने वाला जो अर्थे उसको लक्षण कहते हैं वह लक्षणा भी कई एक मेद की है परन्तु यहां दिग् दर्शन करते हैं जो शब्द अर्थ को छोड़कर सद्य अर्थ को जनावे सके (३) जहललक्षणा (जहलत्स्वार्था) कहते हैं। जैसा कि किसी पुढ़ने कहा (देवदत मंडप में बैठा हृषनकरता है) इस वाक्य में जो मंडप शब्द है, इसका शब्द अर्थ मण्ड (चाषलों को पीछे) पीने वाला है परन्तु दस अर्थ से वक्ता का तात्पर्य नहीं सिद्ध होता; वशीकि मण्डपीने वाला कोई मनुष्य वाँ पर्युही होसकता है और उसजोड़ में बैठकर हृषन करना सर्वथा विविहै इसलिये शब्द अर्थ का परित्याग करके लक्षणा हारा मण्डप धन्न के गृहका बोध करता है, इसीसे यहा जहललक्षणा है। यहा मण्डपपद लाखणिक है; और धन्नकागृह सद्य अर्थ है, जहा शब्द अर्थके साथही सद्य अर्थ भी जानाजावे वहा भजहललक्षणा होती है जैसा (शोण दीड़ता है) यहां पर शोण पदकी गति रक्षा रूपमें है उसमें धारन कियाएष तात्पर्य सिद्ध नहीं होसकता इस लिये शोणपद लक्षणा हारा शोणगृष्ण विशिष्ट अवधादि का बोधक है ॥

(२) अथ अन्वयानुपपत्तिर्लक्षणावोजम्, इतिप्राञ्चप्राहुः  
तात्पर्यानुपपत्तिरेव संवच निक्षणावोजम्, इतिनिध्याजगदुः ॥

(३) लक्षणावद्वेदक रूपेणलक्ष्यमात्र बोधप्रयोजिका लहरत  
शणा। यथा निहत निदर्शने गङ्गापद शब्दप्रयाह संवन्धस्यतीरेस-  
स्वात् ताद्यग्येव्यसंवन्धस्यपलक्षणानाद् गङ्गापदात्तीरोपस्थितिः॥

(४) लक्षणावद्वेदकरूपेण लक्षणशब्दोभयबोधप्रयोजिका,  
भजहललक्षणा यथा—काकेभ्योटधिरस्यताम्, इत्यत्काकपदस्यद-  
इयुपद्यातजे लक्षणालक्ष्यताद्वद्वेदकं दध्युपद्यातक्त्वं तेनष्पेषद-  
इयुपद्यातज्ञानं सर्वेषां ज्ञानकिङ्ग्राहीत्युपद्यालक्षण्यस्य/बोधरति ।

आसत्तियोग्यताकांक्षा तात्पर्यज्ञान मिष्यते ॥८२॥  
कारण—

ठी०—चासत्तिरित्यादि । आसत्तिज्ञान, योग्यताज्ञान, चाकांक्षाज्ञान, और तात्पर्यज्ञान ये चारीं भाँ शाठ वीध में कारण हैं, इसलिये इन चारों के स्वरूप को दिखाते हैं “सन्निधानं पृथ्यादि पृथ्य से ॥८२॥

**सन्निधानंतु पदस्या<sup>१</sup> सत्ति रुच्यते ।  
पदार्थे तत्र तद्वत्ता<sup>२</sup> योग्यता परिकीर्तिता ॥८३॥**

ठी०—पदों का विना व्यवधान के जो उच्चारण करना इसे आसत्ति कहते हैं, इसका यह फल है कि जिस मनुष्य स्वामी ने प्रातः काल उठ कर कहा “अरे भूत्य” फिर मध्याह्न को कहा “गौको” उसस पीछ सन्देश का समर कहा “ल आ” और आधी रात को कहा कि “साट स” तीए से स्थल भ भूत्य कुछ भा नहों समझा वर्धीकि पूर्वान्त आसत्ति नहीं है किन्तु दा २ महार के अनन्तर एक एक पद कहा ह इसस आसत्तिका ज्ञान ग्राद वीध में अवरुद्ध कारण मानना चाहिये तो जहाँ स्वामी ने भूत्य स कहा कि “हे भूत्य गौ को ले आ दड से” इस स्थान में भूत्य सुनते ही वाय में दंड लेकर श्रीब्रंगौ को ले आवेगा ।

**अब योग्यता का स्वरूप कहते हैं—**

एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का यथार्थ सबन्ध योग्यता कहाता है इसका ज्ञान भी ग्राद वीध में कारण है, जिस से पानी

( १ ) पदानामृद्यवधानं सन्निधिः ।

( २ ) एक पदार्थपर पदार्थ संसर्गेयोग्यता ।

दिड़कता है वा दूध किड़कता है यह वाक्य प्रभाष्ट है । और चाग किड़कता है, वा “पत्थर किड़कता है” यह वाक्य प्रभाष्ट नहीं है वधीकि यहाँ पर योग्यता ज्ञानका अभाव है इस सिये यहाँ बोध भी नहीं होता अर्थात् सेवन किया की जल्द में ही योग्यता है बन्हि में नहीं है, इस लिये शास्त्र बोध नहीं होता ॥ ८४ ॥

**यंत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत् ।**

**वक्तुरिच्छातुतात्पर्यं परि कीर्तिम् ॥ ८५ ॥**

टी०—जिस पद से विना जिस पद में ( अननुभावकता ) शास्त्र बोध उत्पन्न करने का सामर्थ्य न हो उस पद की उस पद के साथ आकांक्षा होती है जैसाकि किसी ने कहा “दहो” अब यहाँ केवल दहो शब्द से सुनने वाला कुछ नहीं जान सकता, कि दहो-

( १ ) एक पदार्थ विरह सहजता परपदार्थ निष्ठानुभव जनकता भावस्वरमाकांचाया लक्षणम् ॥

( २ ) विवक्षात्पर्यं तात्पर्यस्य लक्षणम् । ‘इदमेतमिमन्येऽन्यं प्रस्त्यायतु’ इति प्रयोक्तुरिच्छावा । तदर्थं—‘एतत्पदमेतेन पदेन सह सम्भवान्वय बोध जनयतु’ इति । अत्र प्रयोक्तु अभिसंधापयितुमाच्चम्, नतु वक्त्रैष मौनि इत्योक्ता व्याप्तेः । शुक्र वावयेभगवदिच्छेव गति रिति । अत्र मत भेदाः—परे शास्त्रबोधं प्रतितात्पर्य ज्ञानस्य कारणत्वं नास्त्येव, इत्याहुः । केचित्पृथग्नः सैषधृदमानय, इत्यादौ नानार्थं दर्यत्वं एव तात्पर्यं संशयादेः संभवेन तत्र ह्यप्रश्नद बोध एव तात्पर्यं निश्चयोहतुः, नतु ‘घटमानय इत्यादौ शास्त्र बोध हेतुः इत्याहुः । परेतुतचापि (घटादिगः इदबोधस्यसेऽपि) ‘घटपदं कुम्भपरम्, स्वत्वयापठ्यरंवा, इति संशयेघटयास्त्र बोधा भावात् सर्वत्र तात्पर्यं निश्चयः कारणम्, इत्याहुः इति शब्दः ।

से आँ, वा या जाओं, वा दही को से जाओं और लब लाहा कि “दही को से आ” तो सुनने वाला शोभ्र ही दही से आता है इस से प्रतीत हुआ कि “ले आ” कहे बिना केवल दही शब्द से कुछ यथार्थबोध नहीं होता यही दही पदको “ले आ” पदकी आकांक्षा है तो चित्र हुआ कि एक पद से बिना दूसरे पद से अर्थ देने की सामर्थ्य न रहनी यही आकांक्षा है। और वहाँ की इच्छा तात्पर्य कहाती है यदि शाब्द बोध में तात्पर्य ज्ञान की कारण न माना जाय तो “सैन्धव मानय” इत्यादि स्थानी में कही याच मसहूँ में ‘अश्व’ का तथा कहीं भोजनादि प्रसङ्ग में ‘लबण’ का बोध जो होता है (अर्थात् तत्त्व प्रसङ्ग में विलक्षण बोध जो होता है) वह नहीं होना चाहिये। आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा और तात्पर्य इन चारों का ज्ञान जिस वाक्य में ही वही वाक्य प्रसारण होता है और पदों के समूह को वाक्य प्रसारण कहते हैं ॥८४॥

इति कारिकावली रहस्य प्रकाशे शब्द परिच्छेदः ।

---

## अथमनी निरूपणम्

साक्षात्कारे सुखादीनांकरणं मन॑ उच्यते ॥

अयोग्याज्-ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ।८५।

टो—शब्द मन का नरपत्ति करते हैं ‘साक्षात्कारे’ इत्यादि अथसे—सुखदुःखादि के प्रत्यक्ष में (करण) साधन की मन कहते

(१) इपर्यं रहितहेसति कियावस्त्वं मनसोलक्षणम् । अष्ट पादकात्यैरभिधीयते । ‘युगपञ् ज्ञानानुपपत्तिमनसोसिङ्गम्’ इति

है अर्थात् जिस हारा सुखदःखादि का प्रत्यावाहक शारण से  
उसे मन कहते हैं परन्तु मनुष्य का मनजवएक वस्तुमें होता  
है तो दूसरे पदार्थ को कभी नहीं समझता, इसमें प्रतीत होता  
है कि मन पशुपरिमाण है अर्थात् परमाणुक्षेत्रस्थ है, यदिमन बड़ा  
हो तो एक और चब्बेकुके दूधरी और ज्ञानमें छुके एक काल  
में अनेक ज्ञान उत्पन्न करादेवे क्योंकि इसे बात को पूर्ख कहनुमें  
है कि आत्मा मन के साथ जुड़ता है मन इन्द्रिय के साथ और  
इन्द्रियवस्तुके साथ जबजुड़ता है तब प्रत्यक्ष होता है । (अ०) जब  
कभी महा दीर्घ जलेको अथवा कोई वस्तु ज्ञाने लगे तब उसके पृष्ठ  
रस, गन्ध, गृह्ण, रपर्ग इन सर्व का ज्ञान एक काल में देखते  
हैं तो मन सूक्ष्म कैसे मानें । (उ०) मनमें बहुत ऐसा है अतः  
भट्टिहो एक इन्द्रिय के साथ जड़कर किर गीव द्वारे से जुड़ता  
है अतः वह क्लभ से ही ज्ञान उत्पन्न होते हैं परन्तु क्लभको अति  
सूक्ष्म होने से पतीति नहीं होती जैसे पानका ज्ञानपूर्वक से और  
उसकी जीड़कर उसमें सूची प्रवेश किया वहां ऐसा प्रतीत होगा

एकालेज्ञानानामन्त्यपत्तिर्यतः सर्वधर्मीमिनमोनिष्ठम् । जीवा-  
र्मनोयगपन्नानाज्ञानधारणेवाभाविकीकाचिदगतिर्विद्यते तद्वि-  
गिष्ठएवात्सामनः पदेनवाचक्षिप्तते, इत्यादि । वेदान्तिनहस्तु सादि  
द्रध्यत्वेन मनमोऽपिमावग्यवत्वं सांदित्वचतस्य "तन्मनोऽमृजत्"  
इतिश्रुतिसिद्धम् । अत एवत्तन्मध्यमपरिमाणवत् न च तस्य  
देहपरिमाणपरिमितत्वे यगपत्मवेन्द्रिय संबन्धममवाद्युगपन्ना  
नाज्ञानोत्पत्तिप्रमाण इतिशार्चर्य, एकनिःदेहेषुकमेवज्ञानं जन्मयते, इति  
नियमातावदावधी समानः । अन्यथायुगपच्चाद्युपज्ञानहययोरुत्पत्तिः  
किंनस्यात् । सुप्रस्त्यन्यथानुपस्थ्या त्वद्मनः सधोगस्य ज्ञानमात्र

कि सर्व में एक कालमें ही भूचीका प्रवेश हुआ है परन्तु वस्तुतः जब प्रथम यज्ञ में भूची का प्रवेश हुआ है उसी समय हितीय पश्च में सूची का प्रवेश नहीं हुआ ऐसा यहां भी मसमें वह मन एक २ आत्मा के लिये गिन्न २ है और नित्य है यदि यदि सर्व आत्माओं में एकही मन माना जाए तो जब एक को ज्ञान हुआ तब दूसरे को न होना चाहिये क्योंकि वह तो पूर्णका यक्षि से परम सिद्ध है तो एक काल में सकल इन्द्रियों के साथ उसका संयोग नहीं हो सकता ॥ ८५ ॥

### इति द्रव्य पदार्थ व्याख्या ॥

कारणस्वेनत्वगाम्यपगमान । रमनाचिन्तनत्वद्वनःमंयत्तस्यगडस्य  
यगपद्मसपर्योप्यमभस्तत्रापिदर्थैरिति लगिरन्ते, अत्र समाधी  
यताऽचनामन्यायग्रास्वपत्त्वात्तरतैरिति, अस्माभिन्नत्यात्यःश्चिति  
विनिहारात्युक्तिमनुभवोदास्यते मसाधो । अत्रमतमेदाःकेचित्  
तमनोश्चिभ्, इतिमीमामकाः तत्पञ्चम् । तस्यविमत्वाहीकारेतु  
आहमनीमनसा मंयोगम्य (ज्ञानकारणस्य) अनपपत्तिविनिदृष्ट्यमय  
स्माव आत्माविभवितिविनान्तः तथाच मनसोऽपिविभवाहीकारे  
विभुहयस्यापि मंयोगादत्तिः । न च, 'विभव्यसंयोगोऽस्त, इति  
काच्छ्यम, ताहगमंयोगस्य सर्वदा सर्वच सत्त्वप्राप्तो मुख्यितरेवानु  
पपनास्थात् । अतो 'मनोऽश्वेष' इतिनैपायिकाः । 'वायुरेवमन,'  
इति केचित् । अहम्मार कार्यमितिसाप्याः । तद्वमनो न प्रत्य-  
चम, अपित् अनुभेदमेव । तथाहि सुखदःखादि मात्रात्माःचच-  
शादि दृष्टिरिक्त करणमाइयः, अत्मस्वपिचक्षरादिपुत्रायमानत्प्रत्,  
घटकत् इतियच्चमुखादिमात्रात्मारकरणम् तन्मनः मन्यतःनेति  
(करणेऽसुन्) मन इति ॥

## कारिकावली रहस्य प्रकाश सहिता ।

अवगुणों का निरूपण करते हैं ।

अथद्रव्याश्रिनाज्ञेया निर्गुणानिष्क्रिया गुणाः ॥  
रूपंरसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम् । ८६ ।

द्रवो गुरुत्वं स्नेहश्च वेगोऽमूर्तगुणाभ्यां ॥

टी०—“अधेति” जो मर्यादा द्रव्यमाचाश्रितही निरुप्य और निष्क्रिय ही उन्हें गुण ज्ञानना चाहिये, अब जिसे हुए गुणों की मिलन २ कर्त्ता संज्ञा जो यन्य कारोने निर्णीत की है उन्हें दिखाने हैं जैसे रूप, रस, स्पर्श गन्ध, परत्व, अपरत्व, ॥ ८६ ॥ द्रव्य, गुरुत्व, स्नेह, तथा वेग, येदम मूर्तगुण कहाते हैं, पर्यात् इन दशों में से कोई एक भी विभुची में नहीं रहता ॥

धर्मधर्मभावनाच शब्दो वुङ्छश्चादयोऽपिच्च । ८७ ।  
एते ऽमूर्तगुणः सर्वे विद्वन्निः परिकीर्तिः ॥

टी०—धर्म अधर्म, भावनाद्य भंश्कार, गृह, वुङ्छ, मूङ्छ, दुःख रहशा, देप, यहन, इन दशों को युहि मान् जोगीने अमूर्तगुण कहा दे ॥ ८७ ॥

संख्यादयो विभागान्ता उभयेषां गुणामताः ॥ ८८ ॥

( १ ) द्रव्य कर्त्ता भिन्नत्व सनि भास्त्राद्य रहत्वं गुणात् ज्ञात्वा मूर्त्ति गुणो नैयायिकानां देयविकाशनाच्च नये अतुर्दिशति धंश्का

टी०—संख्या, परिमाण, पृथक स्व, संयोग, तथा विभाग ये पाँच गुण मूर्तों और अमूर्तों के अर्थात् दीनों का मान हैं ॥ ८८ ॥  
**संयोगश्च विभागश्च संख्या द्वित्वादिकास्तथा ।**  
**द्विपृथक्कादयस्तद्वदेते ३८नेकाश्रितागुणाः ॥ ८९ ॥**

टी०—संयोग, विभाग, द्वित्वादिसंख्या, द्विपृथक्का आदि यह गुण एनेक आश्रित हैं अर्थात् केवल एकमें यह नहीं रहत ॥ ८८ ॥

**अतः शेषा गुणाः सर्वेऽस्ता ३९एकैकवृत्तयः ॥**

टी०—इन से भिन्न और सर्व ही गुण एक एक में ही रहते हैं। अर्थात् एक रस गन्ध रपर्यादि सब ही एक एक द्रव्य में रहते हैं ।

### बुद्ध्यादिपट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिकोद्रवः ९०

को द्रव्य निष्ठः पदार्थ विशेषः । समवाय निराकरणे द्रव्या भिन्न एवेति साख्या वदान्तिनश्च मन्यन्ते । अकारः एकारः, ओका रखचैतेचयोगुणा इतिशादिका' सत्त्व, रजः, तमश्चैते द्रव्यात्मक चयोगुणा 'इति माख्या' । ज्ञानानन्दादयोऽपिगुणा इतिवेदान्तिनः शमदमतितिक्षादयो गुणाइतियोगिन । इतेषादयो दश, इति साहित्यविदः । इत्यलभन्नपेन । (२) विस्तव्यत्तिं संख्यादिपञ्चका भिन्न गुणत्वम् भूतगुणाना लक्षणम् । (३) मूर्ताभृति संख्यादि पञ्चका भिन्न गुणत्वम् अमूर्ते गुणानालक्षणम् ॥

( १ ) एकत्वानवचिद्भूतिक गुणत्वम्—अनेकाश्रित गुण मां लक्षणम् ।

( २ ) एकत्वादिच्छब्दन छत्तिक गुणत्वम्—एक मात्र छत्ति नुशाना लक्षणम् ।

( ४३ )

**स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः॥ १ ॥**

टी०—चपाकज्ञक्षय, चपाकनरस, चपाकजग्नध, चपाकश्र  
स्पर्शं और चपाकजद्वयत्व, स्नेह, वेगाख्य सम्कार, गृह्णत्व, एक  
पृथक्षा, परिमाण ॥ १५ ॥ स्थितिस्थापक सम्कारये एकादय गुण  
कारणगुणोद्भवन हैं अर्थात् कारणों के गुणोंसे कारणोंमें उत्पन्न  
होते हैं ।

**सयोगद्वच विभागेऽचवेगद्वैतेतु कर्मजाः ॥१६॥**

टी०—सयोग विभाग और वेगाख्य सम्कारये तीनों गुण कर्मज  
में अर्थात् क्रिया से उत्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

**स्पर्शान्ति परिमाणैकपृथक्त्वं स्नेहशब्दके भवेद्  
संमवायित्व ॥**

टी०—क्षण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, एक पृथक्ष, स्नेह  
यद्दृढ़ इन से असम्बायिकारणत्व रहता है, अर्थात् इन की गुणान्तर  
ज्ञान से भिन्नी के प्रतिनियम से असम्बायि कारणता रहती  
है, ज्ञानकी प्रतितो इन की भी विषय विधया निमित्त कारणताही  
इयहां पर स्पर्श अनदण ग्रहण करना और “एकपृथक्ष” यहां  
त्रय प्रत्यय का प्रत्यक्ष क साथ अन्वय होने से एकत्र और  
पृथक्षाभ्यं जानना और पृथक्ष से भी एक पृथक्ष यहां घमोष्ट है ।

**अथ वैशेषिक गुणे ॥ १७ ॥ आत्मनः स्थान्नि  
मित्तत्वं ॥**

टी०—जो बातमाके विशेषगुणोंमें ( अर्थात् बुद्धि मुख दुख,  
पृथक्षा, हेष, यत्तम, धर्म, अधर्म, भावनास्य सम्कार इन से

निमित्तं कारणत्वं रहता है जेसे; ज्ञान इच्छा को प्रति-निमित्त कारण है ॥

उच्छ्वस्पर्शगुह्यत्वयोः ॥ वेगेऽपि च द्रवत्वे च सं  
यागादद्वये तथा ॥१८॥ द्विधेंवकारणत्वं स्यात्

टी०—उच्छ्वस्पर्शगुह्यत्व वेगाद्युच्छ्वस्कार, द्रवत्व, संयोग तथा विभाग इन द्वा० गुणों में ॥८८॥ दो २ कारणता अर्थात् असमवायि कारणता आरं निमित्त कारणता रहते हैं, जेसे कि उच्छ्वस्पर्शे कार्यतः उच्छ्वस्पर्श का असमवायिकारण है और घटादि गत पात्रजरूपादिका में निमित्त कारण भी है परंतु भरो आकाय स्याग को प्रात् असमवायि कारण है ॥

अथ १ प्रादेशिकोभवत् । वैशेषिको विभुगुणः स-  
योगादि द्वयंतथा ॥१९॥

टी०—आकाश आदि विभुद्रव्यों को शब्द ज्ञानादि विशेषगुण संयोग तथा विभाग य आरह गृण अव्याप्य हत्ति हैं, अर्थात् ये जहाँ रहते हैं, वहाँ एक देश में ही रहते हैं, अपने आश्रय के सम्पूर्ण देशों में नहीं रहते ॥८९॥ यहा० तत्त्व अनक गुणों का एक २ साधस्य का निरूपण किया अब इसस आगे प्रत्यक्गुणके साधस्य कहते हैं “ चक्षुर्याद्य ” इत्यादि यन्त्र से ॥

चक्षुग्राह्या भवेद्रूपं द्रव्यादे रूपलम्भकं चक्षुपः  
सहकारिस्यात् ॥

टी०—चतु इन्द्रिय मात्र से जिसका पहल वो और विशेष गुण हो उसे रूप कहते हैं यह रूप द्रव्याद्भौमि का उपस्थिति है अर्थात् जिसमें इहे चतुर्से उसी का प्रत्यक्ष होता है और नेत्र इन्द्रिय का प्रत्यक्ष करने में सहकारि कारण है, यह रूप ही यह रूप है इस अनुगत प्रतीति से उपर्युक्त जाति प्रत्यक्ष सिद्ध है।

### गुक्तादिकमनेरूपा ॥ १०० ॥

टी०—यह रूप सात सद्गार्भी से विभाग है, । यथा शुक्र, नील, रक्त, पीत, हरित, कपिश और चित्र भेद से । (३०) सातवाँ (२) चित्र रूप वज्रों मानते होनील पीत आदि का समुदाय ही तो चित्र है इनमें अतिरिक्त चित्र कोइ नहीं किन्तु इही रूप कहने चाहिये । (४०) पाच रक्त के वस्तु में कौन सारूप मानोगे अव्याप्य छत्ति गुणों मता रूप परिणाम नहीं जा एक देश में अन्य और दूसरमें अन्यमानन से निर्वाह हो जाव । यदितनुभौमें पृथक् २ रूपमाने पटम काई रूप न माने तो नेचों से पटका प्रत्यक्ष नहीं हुआ चाहिये वज्रोंकि नेचों से उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होताहै, जिसमें रूप हो, इसलिये सातवा चित्र रूप अवश्य मानना चाहिये । इसी तरह रमादिक भी अव्याप्य छत्ति नहीं है किन्तु रूपसे इतनी विलक्षणता है कि अनेक प्रकारक रसों वाले अवश्यक से उत्पन्न हुए अवश्यकीमें चित्र रस न होने पर भी कुछ छत्ति नहीं है; वज्रोंकि चित्र रस की प्रतीति तो अवश्यक अनेक रसों से भी होसकती है ॥ १०० ॥

(१) चतुर्मात्र पात्र जातिमत्त्वे सति गुणत्वं रूपाय लक्षणम्  
अवश्यक प्रभावारपादेति तर्कं कोमुदी ॥

(२) को चित्रित रूप मात्री कुर्दित ॥

( ४६ )

**जल्दोदि परमाणो तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम् ॥**

टी०—जह और आदि पद से तेज इनके परमाणुओं का रूप नित्य है और सब रूप अनित्य है अर्थात् कार्यों रूप जब यत रूप और कार्य रूप तभागत रूप एवं पार्थिव पदाय मात्र में जो रूप हैं ये सर्वरूप “सद्गुरुक” जन्य हैं ॥

**स्तुरसनाश्राद्धा मधुरादिरनेकधा ॥१०१॥**

**सहकारीरसज्जाया नित्यतादिच्च पूर्ववत् ॥**

टी०—रसना इन्द्रिय से अहण का योग्य जो गुण उसको ऐसे कहते हैं यह रस मधुरादि भद्र स अर्थात् मधुर, अस्तु चक्षण कटु कापाय और तिक्खभद्र स अनका अर्थात् छः प्रकार का है और रसनन्द्रियका सहायक है। इस की नित्यता और अनित्यता पर्यं को (रूप) का नार्द जाननी अर्थात् जखीय परमाणुका रस नित्य है अथवा सारे रस अनित्य है ॥

**घृणप्राद्धोभवेद् २ गन्धो घृणस्यैवोपकारकः ॥१०२॥**

टी०—जिस का प्राण इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो ऐसे गुण की गन्ध कहते हैं यह गन्ध घरणजन्य प्रत्यक्ष में “उपकारक” नाम सहायक है यहाँ उपकारक गन्ध प्राणन्द्रियवतीं जानना इसी तरह चतुरादि निष्ठक्षेपादि समझना योग्य है ॥१०२॥

**सौरभद्रचासौरभद्रच सदेधा परिकीर्तिः ।**

(१) रसगमाच प्राद्ध जाति भवत्यं रसस्यक्षणपम् ।

(२) ग्रीष्मगमाच प्राद्धजातिभवत्यं गन्धस्यक्षणपम् ।



( १०३ )

टी०—यह गन्ध दो प्रकार का है, सुगन्ध और दुर्गन्ध परन्तु सभी गन्ध अनित्य हैं।

“स्पर्शस्त्वगिन्द्रियप्राह्यस्त्वच्चस्यादुरकारकः॥१०३॥

टी०—जिसे त्वक् से भिन्न कोई इन्द्रिय यहश्चेन कर और त्वक् प्रह्लय कर ऐसे विश्व गुण को स्पर्श कहते हैं। और यह त्वाच प्रत्यक्ष में सहायक है परन्तु त्वक् से उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होगा जिस भ द्वद्भूत स्पर्श होता है ॥ १०३ ॥

अनुष्णाशीतशीतोष्ण भेदात्सत्रिविधोमतः ।

काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादिचपूर्ववत् ॥१०४॥

टी०—यह स्पर्श तान संज्ञायां म विमल है यथा अनुष्णाशीत, शीत और उष्ण भद्र स, इनमें स पृथिवी और वायुका ता अनुष्णाशीत है और जल का शीत और तज का उष्ण है और यह स्पर्श काठिन्यादि धम वाला कवल पृथिवी म रहता है आर इसकी नित्यता अनित्यता पूर्व की (रूपादिक की) तरह जाननो अर्थात जलीय परमाणु तेजस परमाणु वायशीय परमाणु म स्पर्श नित्य है और सब स्पर्श अनित्य हैं ॥ १०४ ॥

एतेषां पाकजत्वंतु क्षितीनान्यत्र कुत्रचित् ।

टी०—इन सारी रूप रस गन्ध स्पर्शों का ( पाकजत्व ) तेज स्थोग से उत्पन्न होना कवल पृथिवी में हो है अन्यत्र जसादिको में नहीं है अतः य सभी पृथिवी में अनित्य है और जल आदि में इनमें से को रहत है, वह कहो नित्य है और कही अनित्य है ।

— (६) स्वगिन्द्रियमात्र याह्यातिमह रूपस्यस्त्वप्यम् ॥

दौ०—नैयायिकों के मतमें तो अशपुक्षादि , अवयवि में प्री  
पाक इष्ट है इनका यह तात्पर्य है कि अवयविषों में किंद प्रवर्ण  
छोटा है अतः तड़ाका वन्धि के सूक्ष्म अवयव प्रवेश करके बिना  
ही घटनाश के पाक का करदेने हें यदि ऐसा न माना जाय तो  
वैशेषिक मतमें अनन्त अवयवि \_ और किर उनके नाश स्वी-  
कार कल्पना में गौरव छोगा और इमारे मतमें तो वही यह  
घट है इस तरह को प्रत्यभिज्ञा भी छो सकतो है वैशेषिक मत  
में नहीं छोनो चाहिये ।

गणनाव्यवहारेत हेतः<sup>२</sup> संख्याऽभिधीयते ।१०६।

नित्येषु नित्यमेकत्र मनित्येऽनित्यमित्यते ॥

दित्वादयः पराद्धीना अपेक्षाद्ब्रिजामत्ताः ॥१०७

२०.—उसमें एकत्व स्वरूप संख्या नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य है पौर द्वितीय से पराइंतक सभी संख्या चैरा वहाँ से उत्पन्न होती है अतएव अनित्य है ॥ १०७ ॥

(१) तदृकम् “याहा विनिष्ठिता चटः प्राप्ताय क्षमदुर्जे  
प्राप्तेऽपिता देवासा दुष्टोदृश्यते ततः ॥ १ ॥

अनेकांश्रयपर्याप्ता एतेतुपरिकीर्तिः ।

अपेक्षावुच्छिनाशाच्च नाशस्तेपांनिखपितः १७८॥

टी०—यह इत्वादि सभी संख्या अनेक आश्रयों में पर्याप्ति संवर्ध से रहने वाली है ऐसा वुचिमत् पुरुषों का कथन है और

किञ्च—इस्यतेच पवधेऽपिकल्पेनिपत्तानामपां वहि; ग्रीत रपर्य प्रदृष्टमिति ।

नैयायिकाः-घोडयपदार्थानुसारिन्यायज्ञाः । अत अयुत्पत्तिः “न्यायवेस्यधीते वा” इति नैयायिकः उक्तप्रत्ययः । न्यायशास्त्रन्तु गोतममुनिप्रयोतं “प्रमाणप्रमेयसंख्य प्रयोजनसिद्धान्तदृष्टान्तापवक्तर्कनिर्णयवादनस्पवितरडा इत्वाभासच्छलजाति नियमस्य नानां तत्वज्ञानान्तिनः अयसाधिगमः” इत्याद्यारम्य “इत्वाभासारम्य यथोक्ताः” इत्येतत्पर्यन्तं पञ्चाध्यायात्मकं सूचोपनिषद्मिति । अतएवेदं कारिकावलो नामकं प्रकरणन्तु वैशेषिकशास्त्र-रीत्याज्ञातव्यं न्यायोऽपदार्थानामचादशेनात् प्रमाणचतुष्टयनिरूपयं यद्यपि गोतममतेनावान्यधायि तयापि तध तस्य चोष्टव्य प्रदर्शने तात्पर्यं प्रमाणइयाङ्गोकारेत् प्रत्यच्चपूर्वकत्वादनुमानस्य प्रस्त्यच्चमेवप्रमाणमिति पर्यवसन्नं स्यात्स्याच्च तेननास्तिवयः पञ्चपात् इतीतः कारिकाकल्या न्यायशास्त्रभिधानन्तु केवलं भग्न विज्ञानितमेवदर्थनग्रास्त्रं परिशोलनजमतिवैग्राद्यरित्यस्वान्तरानामितिच्छेयम् । तदुक्तम्—“कथादेनच सपोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् । “गोतमेनतयान्यायं सांख्यचक्षिप्तेनैव” इत्यादि ।

(२) एकत्वादि व्यवहारासाधारणकारणस्वेषति गुणस्वरूपं च अयापा चतुर्पात्रम् ।

अनेकांश्रयपर्याप्ता एतेतुपरिकीर्तिः ।

अपेक्षावुच्छिनाशाच्च नाशस्तेषांनिरूपितः १०८॥

टी.—यह विलोक्यादि सभी संख्या अनेक आश्रयों में पर्याप्ति उद्भव से रहने वाली है ऐसा बुद्धिमत् पुरुषों का कथन है और

किञ्च—इत्यतेच पवित्रिकक्षयेनिष्ठानामपां वहिः श्रीत रपर्य भृष्णमिति ।

नैयायिकाः—पौडशपदार्थानुसास्तिन्यायज्ञाः । अत इयुत्पत्तिः “न्यायार्थेत्त्वधीते वा” इति नैयायिकः ठक्प्रत्ययः । न्याययासचन्तु गोतममुनिष्टिं “प्रमाणप्रमेयसंग्रह प्रयोजनसिहास्तद्विष्टान्ता वयवतकंनिर्णयवादवज्जपवितएडा इत्वाभासच्छलज्ञाति गियहस्था नानां तत्वज्ञानान्तिः व्येषाधिगमः” इत्याद्यारम्य “इत्वाभासारथ यद्योताः” इत्येतत्पर्यन्तं पञ्चाध्यायात्मकं सूचीपनिष इमिति । अतपवेदं कारिकावनो नामकं प्रकरणन्तु वेशेविक्यासच-रीत्यात्मात्मव्यायायोलपदार्थानामवादग्ननात् प्रमाणचतुष्टयनि- ष्टपर्यन्यद्यपि गोतमसतेनाचान्यधायि तथापि अत तरय सौष्टुप्य प्रदर्शने तात्पर्यं प्रमाणहयाङ्गीकारेत् प्रत्यच्चपूर्वकत्वादनुसानस्त्र प्रत्यच्चमेवप्रमाणमिति पर्यवसन्नं स्थात्स्याच्च तेननास्तिकम् । पर्य- पात इतीतः कारिकावल्या न्यायग्राम्याभिधानन्तु केवलं भग्न विल- सित्सेषुदर्शनग्राम्य वरिशोलनजमतिवैशारद्यरितास्वान्तानामिति- ज्ञेयम् । तदुलम्—“कर्णादेनवं संप्रीतां ग्राम्यं वैशेषिकं महत् । “श्रीतमेनतयान्यायं सांख्यचक्षिलेनवै” इत्थादि ।

(2) एकत्वादि व्यवहारासाधारणकारणत्वेषति गुणस्त्रं च- अग्राया रक्षणम् ।

अपेक्षा वुदि के भाग से इनका भी (अर्थात् द्वित्वादिका भी) नाय होता है ॥ १०८ ॥

### अनेकैकत्वं वुद्धिर्या साऽपेक्षा वुद्धिरुच्यते ॥

टी०—“यह एक है यह एक है” इस तरह अनेक पदार्थों में एकत्व भवगाइन करने वाली वुदिको अपेक्षा वुदि कहते हैं अर्थात् वहुत पदार्थों के अलग १ एवं २ गिनको, अपेक्षा वुदि कहते हैं। और इसमें कन्दकीकार का तो यह कथन है कि जिस स्थलमें एक हव ज्ञान नियम से नहीं होता उस स्थान में द्वित्वादि भिन्न वहुत्व संख्याकी उत्पत्ति होती है। जसे सेना वा बन आदिमें एकत्वज्ञान अनियत है अतः यहां पर वहुत्व संख्या की उत्पत्ति है ॥

**परिमाणं भवेन्मानं व्यवहारस्य कारणम् ॥१०९॥**

(१) मानेकत्वममूङ्गानम्बनरूपावुदिरपेक्षावुद्धिः, अनेक-  
त्ववुद्धिर्वा अनेकानि च तान्येकत्वानि तेषां वुद्धिरितिविषयः । अपेक्षा  
वुद्धिरित्वादि अनकाल्यं नाप्तीत्यवश्यं मन्त्रश्यम् । अन्यथा तेनैव  
भास्या ताग्न्यात् अपच्यादरथायित्वमेवनस्यात् इतिकेचित् (२) मान-  
व्यवहारासाधारणकारणत्वं परिमाणव्यष्टिश्च एवम् मानव्यवहारात्,  
इति प्रसारस्यादि व्यवहारः न तु प्रसारस्यादिव्यवहारः । चतुर्विध  
मयि प्रस्येकं परम्, मध्यमे चेति । तत्परमाणुस्वरूपस्वेवे पर-  
माणुमनसोतिष्ठतः । मध्यमाणुस्वरूपस्वेवे इष्टयुक्ते तिष्ठतः । पर-  
माणव्यवहारस्य दीर्घत्वे गग्नादो । मध्यममहात्यदीर्घत्वे घटादीतिष्ठतः  
प्रावदावेहान्तिमरण, अपुरुषमहात्ये चे एव परिमाणेनाप्तुष्टी,  
एव्याहुः । (३०) दध्यादव्यरित्वमेव परिमाणिनायाह दध्यापतीतो  
तत् प्रस्येवा भावात् । (४०) मैव दूराद्वद्यप्तेऽपि तत्परिमाण  
विवेदस्याप्तव्यात् । अतएव मानव्यवहारस्याप्तव्यात् । इति ।

अणुदीर्घमहङ्कर सितितद्वभेदारतः ॥  
अनित्येतदनित्यस्या नित्येनित्यमुदाहृतम् ॥ १० ॥  
संख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते ॥

## अनित्य-

टी०—जिस गुणके द्वारा वस्तुको मापे उस गुणका 'परिमाण' कहते हैं ॥ १०८ ॥

यह परिमाण चार प्रकार का है जैसे अणु, दीर्घ महत् और छात्र अर्थात् छोटा, लंबा, भारी इलका। यह परिमाण नित्य में नित्य और अनित्य में अनित्य होता है ॥ ११० ॥ अनित्य परिमाण की तीन कारणी से उत्पत्ति होती है जैसे संख्या से परिमाण से और प्रचय से ॥

द्वयणुकादौतु संख्याजन्यमुदाहृतम् ॥ १११ ॥

टी०—द्वयणुकाविकीं का परिमाण संख्या से उत्पन्न होता है अर्थात् परमाणुओं की द्वित्व संख्या से द्वयणुक का परिमाण और द्वयणुकों की चित्व संख्या से द्वयणुक का परिमाण उत्पन्न होता है, क्योंकि परमाणु परिमाण और द्वयणुक का परिमाण किसी का कारण नहीं है ॥ १११ ॥

परिमाणं घटादौतु पारमाणजमुच्यते ।

प्रचयः शिधिलाख्योयः संयोगस्तेन जन्यते ॥ ११२ ॥

परिमाणं तूलकादौ नाशत्वाश्रयनाशतः

टी०—घटादिकों में जो परिमाण है यह परिमाण से उत्पन्न हुआ है अर्थात् कपाल तन्तु आदि के परिमाण घट से पट का

परिमाण उत्पन्न होता है। प्रचय नाम शिथिल संयोग का है ११२॥ उस संयोग में ( तूल ) छद्म आदिकों में जो परिमाण उत्पन्न होता है वह प्रचयजन्य है अर्थात् जब योड़ी छद्म की खुनियाँ धुमला हैं तो वह छद्म फूल कर बड़ी हो जाती है, यह रूप का बड़ा परिमाण हुआ है यह प्रचयनाम शिथिल संयोग से ही उत्पन्न होता है। और परिमाण का नाम आश्चर्य के नाम से उत्पन्न होता है जैसे घट के नाम से घट के परिमाण का नाम हो जाता है ॥

**संख्यावत् पृथक्तवं स्यात्पृथक् प्रत्ययकारणम् ११३॥**

ठी०—यह इससे पृथक् है इत्याकारक भान का कारण जो गुण उसे पृथक्तव कहते हैं और इस का भी नित्यत्व अनित्यत्व भादि विचार संयोग की तरफ है ॥ ११३ ॥

**अन्योन्याभावतो नास्य चरितार्थत्वमुच्यते ॥**

**अस्मात्पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा । ११४**

ठी०—इस पृथग्न गुण को अन्योन्याभावसे चरितार्थता नहीं होती अर्थात् अन्योन्याभाव के मानने से ही इस का कारण भी सिव हो जाय ऐसा नहीं हो सकता यद्योकि “अयस्मात् पृथक्” इस से “भद्रमिदं न” यह ज्ञान विलक्षण (मिळन) है इस को अप्ट कहता हूँ। यद्यपि भेद और पृथग्न एक में ही प्रतीत होते हैं तथापि यह घट नहीं है यह भेद की प्रतीति है और यह घट से पृथक् है, यह पृथग्न की प्रतीति है इन प्रतीतियोंके भेदसे पृथग्न

(१) पृथग्न्यव्यञ्जापाभावारप्यकारण पृथग्नम् ।

(२) नव्या, भोर्मासिकारप्य पृथग्न मन्योभाव एव ना गुणा अतर्मित्यमन्यन्तेति ॥

नामी गुण मानते हैं तिन्हि एह द्रव्य से दूसरे द्रव्य को जैसे पृथक् कर लेते हैं, इस तरह गुणों को नहीं पृथक् कर सकते, परन्तु भेद गुणों का भी सिव होसकता है, रूप जो है वह रस नहीं है इन युक्तियों से पृथक्त्व नामी गुण अभाव नहीं है ११४ ।

**अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव ३संयोगर्द्दरितः ।**  
**कीर्तित स्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः । ११५**  
**तथोभयक्रियाजन्यो भवेत्संयोगजोऽपरः ॥**

टो—चप्राप्त द्रव्यों के परस्पर मिलाप को संयोग कहते हैं वह संयोग तीन मंजाश्चों से विभक्त है जैसे अन्यतर कर्मज ११५ । उभय कर्मज और तृतीय संयोगज अर्थात् संयोग दो पदार्थों वाँ होता है, जहाँ दो में से किया एक में हो दूसरेमें न हो वहाँ अन्यतर कर्मज संयोग होता है, जो दोनों को किया से प्राप्ति उत्पन्न हो, उसे उभय कर्मज संयोग कहते हैं, और जहा एक देव के संयोगसे सारे पदार्थ का संयोग हो, उसे संयोगजकहते हैं इनके क्रमसे उदाहरण मूलकार “आदिमः” इत्यादि चन्द्रसे स्वर्ण दिखाते हैं ॥

**आदिमःइयेनशौलादि संयोगःपरिकीर्तिः । ११६**  
**मेषयोःसन्निपातो यः सद्वितीय उदाहृतः ।**  
**कपालनरुसंयोगात्संयोगस्तरुकुम्भयोः । ११७**  
**तृतीयः स्यात् ।**

(२) अप्राप्ति पूर्विका प्राप्तिः संयोगः । संयुक्त व्यवहारा माधारणकारणत्व वा । ‘अमाधारणत्व’ विशेषयेन माधारणकारण कात् । अथवचानित्यएव विभुद्धमंयोगानुषोकात् ।

**टीका—** इस चित्रित संयोगों में प्रथम श्येन और शैलं ता पर्वत् पक्षी और पर्वत आदिकों का है वर्णकि पर्वत में क्रिया नहीं हुई केवल पक्षी आदि को क्रिया से पर्वत में संयोग होता है । ११६। एवं दरस्पर (मेघ) में ही आदिके (सन्तिनपात) टकर होना स्वरूप दूसरा संयोग है चर्योत् ऐसा संयोग दोनों को क्रिया होने में स्वरूप होता है एवं कपाल हृष के संयोगसे होनेवाला घट हृष का संयोग ततोर्य संयोग है ॥

**कर्मजोऽपि द्विधैवपरिकीर्तिः ।**

**अभिघातो नोदनं च शब्द हेतुरिहादिमः ११८**

**शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्यात् ।**

**टी०—** वह क्रिया जन्य संयोग फिर दो प्रकार का है। जैसे अभिघात और दूसरा नोदनाद्य लिख संयोगसे शब्द होय वह अभिघाताद्य संयोग है । ११८। एवं जिसके होने में शब्द न होय वह नोदनाद्य संयोग है ॥

**७ विभागोऽपित्रिधाभवेत् । एककर्मोऽद्वस्त्वाद्यो  
द्वयकर्मोऽद्ववोऽपरः । ११९ । विभागजस्तृतीयःस्या  
स्तृतीयोऽपिद्विधाभवेत् । हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्य  
हेतुविभागजः १२० ॥**

**टी०—** यह विभाग का निरूपण करते हैं “विभागोऽपि” इत्यादि एव्य से मिले हुए दो पदार्थों का अलग २ होना विभाग कहाताहै, यह विभाग भी तोन मन्त्रार्थी से विभक्त है जैसे प्रथम एक को ही क्रिया से स्वरूप होने वाला ।

---

**१ विभाग प्राययासाधारणकारण्यं विभागायकारणम् ।**

दसरा दोनों की क्रिया से उत्पन्न होता है और तृतीय विभाग से उत्पन्न होने वाला विभाग, वह विभागज विभाग भी हो प्रकार का है प्रथम कारण मात्र के विभाग से उत्पन्न होता है और द्वितीय कारण और अकारण उभय के विभाग से उत्पन्न होता है जोनों प्रकार संयोग की तरह जानने चाहिये अप्रत्यक्ष विभाग उभय क्रियालन्ध है, तोसरा विभागज विभाग एक देश के विभाग से जो मारे देश का विभाग होता है उसे विभागज विभाग कहते हैं जैसे पुस्तक से कुई हुई चंगली के अलग करने से सारा यरीर भी अलग होजाता है । दोनों भेदों के उदाहरण जैसे कपाली के परस्पर विभाग से जो अन्य देश के साथ कपाली के परस्पर विभाग से जो घट का भूतल से विभाग हो, उस हेत्व हेतु विभागज कहते हैं ॥१२०॥

‘परत्वं चापरत्वं च द्विविधं परिकीर्तितम् ।

दैशिकं कालिकं चेति मूर्तेष्व तु दैशिकम् ॥१२१॥

परत्वं मूर्तसंयोगं भूयस्त्वज्ञानतो भवेत् ॥

अपरत्वं तदलपत्वं वृद्धितः स्यादितीरितम् ॥१२२॥

टी०—परत्वा परत्व का निरूपण करते हैं “परत्वमिति” देशकृत कालकृत भेदसे परत्व तथा अपरत्व दो प्रकारका है दैशिक का दूरत्व समीपत्वसे व्यवहार करते हैं और कालिक का ये अपरत्व और कनिष्ठत्व से व्यवहार होता है ये दोप्रकारके परत्व अपरत्व अपेक्षा से बिना कहीं नहीं होते और उनमें से दैशिक परत्व

१-परायन व्यवहारासाधारण्यकारणस्वं परत्वापरत्वयोर्लक्षणम्

परत्वतो मूर्त यदार्थ में ही रहते हैं ॥१२१॥ अधिक मूर्त संयोग ज्ञान से परत्व उत्पन्न होता है, अर्थात् जो वस्तु जिस वस्तु की अपेक्षा अधिक देशलंब के स्थित है, वह वस्तु उस वस्तु से पर कहाती है, जैसे लवपुर के मनुष्यों से जालन्धर अमृतसर की अपेक्षा अधिक देश के अन्तर से स्थित है इसलिये लवपुर के मनुष्यों को अमृतसर से जालन्धर पर है । अवदैयिक अपरत्व को कहते हैं एवं मूर्त संयोगाल्पत्व ज्ञान से अपरत्व उत्पन्न होता है अर्थात् जिस वस्तु से जिसवस्तु में थोड़े देश का अन्तर है, उस वस्तु से वह अपर कहाती है, जैसे उत्तरदाहरण में जालन्धर की अपेक्षा अमृतसर में थोड़े देश का अन्तर है, इसलिये लवपुर को जालन्धर को अपेक्षा अमृतसर अपर ( समीप ) है ॥२२॥

**तथोर समवायी तु दिवसं योगस्तदाभ्रये ॥**

टी०—उन दैशिक परत्वापरत्वों का असमवायि कारणदैयिक परत्वापरत्व आश्रय के साथ दिशा का संयोग स्वरूप हो है ॥

**दिवाकरपरिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानतोभवेत् ॥१२३॥**

**परत्वमपरत्वन्तु तदीयाल्पत्ववुच्छितः ।**

टी०—एवं मूर्त्य क्रिया के भूयस्त्वज्ञान से कालिक परत्व उत्पन्न होता है अर्थात् जिसकी अपेक्षा से जो यदार्थ बहुत दिनों से उत्पन्न हुआ हो, जैसे पुच की अपेक्षा पिता बहुत दिनों से उत्पन्न हुआ है, इसलिये पुच से पिता यडा होता है ॥१२३॥ अब अपरत्व को कहते हैं तथा मूर्त्य क्रिया के भूयपीयस्त्व ज्ञान से कालिक अपरत्व उत्पन्न होता है अर्थात् जो वस्तु जिससे पीछे उत्पन्न हो, वह वस्तु उससे कनिष्ठ होठी कहाती है, जैसे उत्तर उदाहरण में यद दिता से पीछे उत्पन्न होता है, इसलिये

प्रता से पृथ्वी कनिष्ठ ( खोटा ) कहाता है यह कालिक परत्वा  
परत्व वेष्टजन्य द्रव्यही में होता है और पटेयों में नहीं होता ।  
अत्रत्व समवायी स्यात्संयोगः कालपिण्डयोः ॥१२४॥

टी०—इस कालिक परत्वापरत्व में काल(विष्ट) जन्यद्रव्य  
के संयोग को असमशयि कारणता है ॥१२४॥

अपेक्षा बुद्धि नाशेन नाशस्तेषां निरूपितः ॥'

टी०—उन कालिक तथा दैशिक परत्वापरत्वों का अपेक्षा  
बुद्धि को नाश से नाय होता है ॥,

बुद्धेः प्रकारः प्रागेत्र प्रायशो विनिरूपितः ॥१२५॥

अथावशिष्टोऽप्यपरः प्रकारः परिदर्श्यते

अप्रमाच प्रमाचेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते ॥१२६॥

टी०—एव क्रम प्राप्त बुद्धि का निरूपण करते हैं “बुद्धिति” ।  
इत्यादि चन्द्र से बुद्धि का प्रकार तो हम बहुत सा पीछे आत्म  
निरूपण ही में कर चुके हैं ॥१२५॥ परन्तु उसमें जो कुछ शेष है  
वह अब यहां दिखलाते हैं, अप्रमा (भ्रम) प्रमा (यथार्थ ज्ञान)  
के भेद से ज्ञान (बुद्धि) की प्रकार का होता है ॥१२६॥

तच्छून्ये तन्म तिर्यस्यादैप्रमासानिरूपिता ।

तत्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रकीर्तिः ॥१२७॥

१—तदभाव वन्निष्ठवियेष्य तानिष्ठपित तन्निष्ठ मकारता  
निष्ठपित प्रकारितायालयनुभवत्वमप्रमाया लक्षणम् । अतापि  
समूहात्मवनप्रमायाभित्याप्तिवारण्यैवनिष्ठक्षणस्पर्शं प्राप्तिः ।  
अस्या एव मिथ्या ज्ञानापरयर्थयोऽयथार्थं निरचयो नामान्तरं  
मिति । दोषाद्वचतस्याऽत्पत्तिः ।

टी०—चप्रमा का निरूपण करते हैं “तत्त्वाद्य” इत्यादि  
प्रन्थ से—(तत् एजतस्वादिधर्माभावशालो शुलिमेण लो (तत्सति))  
“एजतस्ववदरजतं” इत्या कारक ज्ञान उसका नाम ‘चप्रमा’ है  
विषय तथा संशय भावमत्तज्ञान भी उसी चप्रमा बुद्धिही का  
(विषयस्व) विस्तोर संमझना चाहिये ॥१२३॥

आद्योद्देहेष्वात्मवृद्धिः शङ्कादौपीततामतिः ।

भवेन्निद्वच्यरूपायासंशयोऽथप्रदर्श्यते ॥१२४॥

टी०—यह विषय देह में आत्म बुद्धि अर्थात् देह को ही  
आत्मा भावना तथा अख द्वेत झीता है उसे पीत समझा  
एवं सीधी को चादी जानना इत्यादि यदि निरूपण मति  
झीय तो उसका नाम ‘विषय’ है । अब संशय को दिखाते हैं  
“लिघ्नशान में एक वस्तु और उसी वस्तु का भाव ये दोनों एवं  
प्रथ पदार्थ के विवेपष्ट होजाये” उसको संशय कहते हैं—उसका  
इदाहरण मत्तकार इत्य दिखाते हैं “किञ्चिदिति” प्रन्थ से—  
‘किं स्विन्नरो वा स्थाणुवेत्यादि बुद्धिस्तुसंशयः॥

।।२५।—टी०—यह प्रश्न है यद्यप्याणु है । इत्यादि ज्ञान का  
नाम संशय है ॥ तात्पर्य यह है कि किसान जोग छगों से खेत  
बदाने के लिये मनुष्य को नारे दाय पांव चंग जिसके मालूम  
पहें\_ऐसी जजड़ी मत्ताकर पास पूर्य उम्हें विर पर पगड़ी को  
नारे कपेट कर खेत में गाड़ देते हैं, ति जिसमें जोग उम्हे मनुष्य  
ज्ञान पर दूर से भागजायें और खेत में न छुम्हे ऐसी जजड़ी को  
टूट दे टेच कर किसी मनुष्य में लोया ति पगड़ी योगी जम्हो २  
बाँड़ कैलाप पथा यह कोई मनुष्य नहीं, परन्तु दिलता चलता  
नहीं इसमें वथा यह कोई जजड़ी है ऐसे पदमर में मनुष्य नहीं

ज्ञान होता है कि "यह मनुष्य है वा नहीं" इस ज्ञान में मनुष्यत्व और मनुष्यत्वाभाव ये दोनों उस काढ़ी में विशेषण हैं इससे यह संशय ज्ञान है ॥ ११५ ॥

**तदभावा प्रकाराधीस्तत्प्रकारात् ९ निश्चयः ॥१२६॥**

टो—अब निश्चयका निरूपण करते हैं 'तदभावेति' उस वस्तु गत प्रकार रूप से जिस ज्ञानमें नहीं है किन्तु उस वस्तु में अर्थात् जिसका ज्ञान होता है ) रहने वाला धर्म जिस ज्ञान में प्रकार (विशेषण) है ऐसे ज्ञान की निश्चय कहते हैं ॥

तात्पर्य यह है कि जिसमें विना विशेषके एक पदार्थ प्रतीत हो उस ज्ञानका नाम निश्चय हैं संशय में भाव और अभाव इस तरह उभयकोटि होती है अतः तदभावा प्रकारक, ज्ञानमें विशेषण दिया है यह निश्चय यथार्थ और अयथार्थ भेद में दो प्रकार का होता है क्षेत्र घट पड़ा हुआ देख के, जानना कि यह घट है, इस ज्ञान में यह निषेध नहीं है कि "यह घट नहीं है" इस से यह ज्ञान निश्चय है और इस ज्ञान से घटकों हो घट समझा है, ग किसी अन्य की घट जाना है इससे यह ज्ञान यथार्थ भी हुआ, तो मानो यह यथार्थ ज्ञान निश्चय है और वहाँ रक्षु पड़ा है, वहाँ ज्ञान हुआ कि "यह सर्व है" इस ज्ञान में भी यह निषेध नहीं है कि "यह संदेह नहीं है" इससे यह निश्चय हुआ यरन्तु रक्षु को संदेह समझा है इससे अयथार्थ भी है तो मानो यह अयथार्थ निश्चय है ॥ १२६ ॥

१—तदभावा प्रकारकत्वे संति तत्प्रकारकत्वं निश्चयहृष्टकेष्व  
प्रभु सत्यन्ते न संशयव्युदासः । संशयस्योभयकोऽिस्पर्मित्यत् ।

**संशयोऽमतिर्यास्यादेकत्राभावभावयोः ।**

टी०—संशय का सच्चाण करते हैं “स” इत्यादि धर्म वे (एकच) एक धर्मीमें विवद भावभाव प्रकारक ज्ञान का नाम “संशयज्ञान” है ॥

**साधारणादि॒धर्मस्य ज्ञानं संशय कारणम् ॥१३०॥**

टी०—साधारणादि धर्मका ज्ञान संशयमें कारणीभूत है ॥१३०॥

---

१—यत्किञ्चिद्भिर्निष्ठ विशेष्यता निष्पित—विद्वन्नान् धर्मनिष्ठ प्रकारता निष्पित प्रकारिता याक्षिज्ञानं संशयः, भवत् धारणं ज्ञानं वा ।

२—साधारणस्य, आदिपदेन, असाधारणस्य धर्मस्य ज्ञानं संशये हेतुः, तथाथा रथाषु पुरुषयोः साधारणधर्ममुद्धृतादिसच्च एव पुरोषतिन्द्युपक्षम्य रथाषु पुरुषौ रम्त्वा विशेषजिज्ञासयां रथाषु त्य निरचायकं वक्तकोटरादिवां पुरुषपत्वनिरचायकं गिरः पारथ्यादिकं चानुपस्थमानस्य दोषायमानं संशयज्ञानमुरुपद्यते ‘‘किमयं रथाषुर्वा, पुरुषो वा’’ इति । अर्यं साधारणधर्मज्ञानजन्यः संशयः द्वितीयः यथा—गृहदेशाकाशविशेषगुणत्वमसाधारणधर्ममुपक्षमानस्य निर्णयकमज्ञानतः संशयोभवति ‘‘किंशब्देभिस्योनवा’’ इति । न्याय भाष्येतु विप्रतिपद्यादीन्द्रिन्यान्यपिचोषिकारणानि प्रतिपादिता नि, वेषेपिकोरतु भाष्टानितानीतिवोधयम् । इदं तु वोधयम्—संशय इत्यपत्यच एवः, संनिषयं जस्त्वात्, इति विचारय च, अहं भवति, यस्मात् नानुपक्षेन न निष्टीते विचारः (न्यायः) प्रवर्तते किञ्चु संशयिति, चूति या० भाष्यम् ॥

**दोषोऽप्रमायाजनकः प्रमायास्तु गुणोभवेत् ॥**

‘ ‘ टी०—अप्रमाज्ञान के प्रति दोष कारण है तथा प्रमाज्ञान के प्रतिगुण को कारणता है । अब दोषों को कहते हैं ।

**पित्तदूरत्वादिरूपो दोषोऽनानाविधो मतः ॥१३१॥**

टी०—(पित्तेति) पित्तदूरत्वादि दोष अनेक प्रकार के हैं अर्थात् कहीं कोई रहता है, कहीं कोई रहता है, उन दोषोंको अप्रमाज्ञान के प्रति कारणता, अन्यथ व्यतिरेक घारा सिद्ध है अर्थात् कोई एक दोष हीय तो अप्रमाज्ञान उत्पन्न होता है न हीय तो नहीं होता और गुणको प्रमात्मक ज्ञानके प्रतिकारणता अनुमान ग्राह सिद्ध है इसके विशेष विवार को टिक्काण में देखो ॥ १३१ ॥

**प्रत्यक्षेतुविशेष्येण विशेषणवतासमस्म् ।**

**सन्निकर्षेऽगुणस्तु स्यादथत्वनुमितौ पुनः ॥१३२॥**

**पक्षेसाध्यविशिष्टेतु परामर्शोऽगुणोभवेत् ॥**

**शक्येसादृश्यवुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः ॥१३३॥**

**शब्दवोधेयोग्यतायास्तात्पर्यस्याथवा प्रमा ॥ गुणः स्यात् :-**

( १ ) अप्रमायाः पित्त मण्डुकवसाञ्जनयाकचवथदूरत्वादि लान्यत्वादुत्पत्तो दोषोहेतुः सप्तानुगतोऽप्यम्बयव्यतिरेकास्याहेतुः भैवतोतस्तदुत्पत्तोपरतस्त्वमितिवीड्यम् । अनुमानादिनैवाप्रमात्म-मणिगृह्णते तेषामप्यावप्यपरतस्त्वम् । तथादि ‘इदं ज्ञानमप्यमा, विषं वादिप्रहस्तिजनकस्त्वात्, यज्ञैवम् तज्जैवम् यथा ममा, इति ।

टी०—अब गुणों को कहते हैं “प्रस्त्यज्ञाति” विशेषण विगिन्ठ विशेष्य के साथ जो नेचादि इन्द्रियों का सञ्चिकर्ण ( संवर्ध ) पह प्रस्त्यज्ञाप्रमा का उत्पादक गुण होता है ॥१३॥ तथा साध्यविगिन्ठ पच में पूर्वोल्ह परामर्थं ज्ञान अनुमिति ज्ञान का जनक गुण है । गव्यादिग्रन्थ में को “गो सहृदयो गव्यं पदवाद्यः” इत्याकारक सहृदयवुद्धिः वह उपमितिज्ञानका जनक गुण है ॥१४॥ एवं ग्राहदबोध में योग्यताज्ञान यदातात्पर्य का यथार्थं ज्ञान ही गुण एव है ॥

**अमभिन्नंतु ज्ञानमन्त्रोच्यतेप्रमा ॥ १५ ॥**

**अंवं प्रमाका निरूपण करते हैं “अमभिन्नमिति”**

टी०—इस प्रकारण में भमभिन्नज्ञान की प्रमा संग्रह है । (य०) जहाँ पर शुल्कं सथा रजत उभय में “इसे रखते” इत्याका रक्तज्ञान हुआ है वहाँ इस ज्ञान को रजताग्र में भी प्रमात्रव सही होना चाहिये; यदीक्षि यह ज्ञान भम भिन्न नहीं है किन्तु शुल्कं संग्रहे भम एव ही है । (ष०) इस का उत्तर ‘पदवा’ इत्यादि चर्चा में भुक्तकार वर्णं कहते हैं ॥ १५ ॥

**अथवा तत्प्रकारं तज्ज्ञानं तद्दिशोत्यकम् ॑तत्प्रमा-**

( १ ) तद्भिन्ठ विशेष्यता निष्पिततमिन्ठ प्रकारता निष्पित प्रकारिता यास्यनुभवत्यं प्रमायास्तथाम् । यताद्य निष्पित च चर्चाद्यतु भमज्ञानम्बद्धं भमेति इयाप्ति पर्युदामः । भमज्ञानम्बद्धम् भमाय रंगाय रजतत्प्रवाहादित्येन रजताये रंगत्प्रवाहादित्येन च रजतत्प्रवाहादाय ॥ रजतत्प्रवाहित्येन्यता निष्पितत्प्रवाहाभावात् ॥ एवं रंगत्प्रवाहादाय ॥ रजतत्प्रवाहित्येन्यता निष्पितत्प्रवाहाभावात्येति ॥ दक्षार्थानुभावा पूर्व भावं चेष्टा प्रसेति ॥ अंवयं प्रस्त्यविगिन्ठोत्प्रमा भावा ॥ दिव्यं तु वर्दिक्षेपद्धति प्रस्त्यविगिन्ठित्वा ॥

टी०—अथवा तद्विग्रेष्यक तत्प्रकारज्ञान चान् चान् ज्ञानम्  
 'प्रमाणान्' है जैसा कि 'अग्रघटः' इत्याकारक घटत्ववद्विग्रेष्यक  
 घटत्वप्रकारकज्ञान 'प्रमाणान्' है ऐसे ही वस्तुमात्र के ज्ञान  
 में ज्ञानना चाहिये ॥

**नप्रमानापिभ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥१३५॥**  
**प्रकारतादि शून्यंहि संबन्धानवगाहितत् ॥**

टी०—अब निर्विकल्पक का निष्ठपण करते हैं—“न प्रभेति”  
 इत्यादि शून्य से निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमा रूप अथवा भ्रम रूप  
 नहीं कह सकते क्योंकि यह प्रकारता विशेष्यता तथा संसर्गता से  
 गून्य है इसका उदाहरण जैसा कि ‘यह कुछ है’ इत्याकारक है।

**प्रमात्वं नस्ततो याहां संशयानुपरत्तिः ॥१३६॥**

टी०—अब “मरनाधीनामेय मिहिः” इस नियम से यावत्  
 प्रमाण तत्त्व निश्चय न होय तावत् किसी भी पदार्थ का निश्चय  
 नहीं होता इस लिये प्रमाण तत्त्व निश्चय सर्व में पूर्व अपेक्षित है  
 और वह प्रमात्व के निश्चय विना नहीं हो सकता इस लिये प्रमा-  
 त्व निश्चय का उपाय चिन्तन करते हैं “प्रमात्वं” इत्यादि शंघ  
 से यहां पर यह विवेचनीय है कि ज्ञान गत (प्रमाण्य) यथार्थत्व  
 स्वतः याद्य है अथवा (परतः) ज्ञान दृसरे अनुमानादि से होता है  
 इसमें स्थितोपाद्यात्य सीमामकों का मत है मीमांसकों का यह भाव

(१) अब चयो मीमांसका विप्रतिपेदिरे प्रमाकागापरनामका  
 गुरवः, भट्टा: सुरारि नामका मिथाइचनि । तच गुरुणामतम्, ज्ञा-  
 नश्च रथप्रकाशकृपत्वात्तज् ज्ञान प्रमाणं तेनैव गृष्टते, इति भट्टा-  
 नां मते च—ज्ञानमनोन्दियम्, ज्ञान जन्या ज्ञातता प्रत्यवातया च  
 ज्ञानमनुर्मायते, इति । सुरारि मिथाणां मतेतु अनध्यवसायेन

है कि जब दूर से प्रत्यक्ष जारा जलादि का ज्ञान हुआ तो स्वतः  
ही यथार्थ भावन्तव्य स्वरूप प्रामाण्य का निरचय कोके जल की  
इच्छा बाला प्रभुत्त होता है क्योंकि ज्ञान यह होने पर तात  
प्रामाण्य का यह भी शो जाता है न्याय सिद्धान्त में परतो याहौं  
पर गुहोत्त है इस में नैयायिका का यह भाव है कि यदि ज्ञान गत  
प्रामाण्य अपमे से ही गृहीत होता तो कदापि संशय नहीं होता  
जाइये अर्थात् चंनाम्यास दग्ध में ज्ञान यह के अनन्तर सुझे जो  
यह जल ज्ञान हुआ है यह यथार्थ है वा नहीं ऐसा संशय नहीं  
हुआ जाइये क्योंकि निरचय होने पर फिर संशय नहीं होता  
(य०) जिस रथल में संशय हुआ है वहां पर हम ज्ञान यह ही

ज्ञान गृह्णते, इति । तत्र प्राभाकर भूतन्तु विशदो कियते तथाय—  
ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमेव । प्रमातृं स्वतएवगृह्णते । प्रमात्वाश्रयी भूतं  
यज्ञ ज्ञानम् तत् यथा कारण सामग्र्या (चात्मग्नः संनिकर्षः, इत्युद्दि-  
यविषय संनिकर्षः, इत्यादिना) जन्यते तहसिप्रमातृवस्त्रपि तथैवसा-  
मग्र्या गृह्णते । तथाहि—सदपकाशमेव ज्ञानम् 'थर्यं घटः, इति ज्ञा-  
नम्' यथा घटादिकं विषयो करोति, तथा स्वात्मानं (स्वस्वरूपम्)  
स्वस्त्रस्याधिकरणम् (चात्मानम्) च विषयो करोति । अतएव (ज्ञा-  
नस्यघटादि विषय स्वस्वरूप चात्म रूपाधिकरण एततचित्तय विष-  
यकस्त्रा देव) सर्वं मेव ज्ञानम् 'घटमहं ज्ञानामि' इत्याकारक मेव ।  
इत्येव (सर्वस्याधिकरणम् यानुद्ययमायात्मकस्येन्द्र) ज्ञानस्य मिति  
मातृस्य विषयत्वात् 'विष्टो प्रत्यक्षता' इति प्रादः । तथाच स्व  
प्रकाश (स्वस्त्रिमन् स्वविषयकह) महिम्ना स्वमित्र इच्छामाण्यमविधि-  
सिष्यति (विषयीभवति) इत्युच्चुः ।

ज्ञान पाइकातिरिक्तानपेत्तत्वं स्वतो याह्यत्वम् ।

नहीं मानते (८०) यदि ज्ञानका पहली न मानोगे तो ज्ञान धार्मिक प्रामाण्य और उस का अभाव उभय कीटिक संशय ही नहीं होगा क्योंकि संशय में धर्म ज्ञान को कारणता है जैसे आगे स्थित बहुत कंच मुँड बिना देखे कभी भी यह स्थाष्ट है वा पुरुष है ऐसा संशय नहीं होता इम लिये ज्ञानमें परतः ही प्रामाण्य गृहीत होता है । १३६  
व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा ॥  
हेतुव्याप्तिप्रहेतर्कः ९वचिच्छङ्कानिवर्तकः ॥ १३७ ॥

परतोयाद्यमितिनेयायिका तथा च तेषां प्रयोगः—जाति में ज्ञानप्राप्ति न प्राप्ति न भवति, यत्प्रसानभवति, तत्समर्थप्रवृत्तिजनकनभवति, यथाजेत्तत्त्वमद्यति व्यतिरेकेषामभ्यासदण्डापन्नज्ञानप्राप्त्येन निरचीयते, एवं च अनुमोनादियाद्यत्वात् शक्तीपरतस्त्वम् । तदुलम्—“प्रभाष्यत्वामभाष्टवे स्वतः साह्या समाचिताः । नैयायिकास्तेपरतः, सौगताश्वरमस्वतः ॥ प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः । प्रभाष्टवं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रभाष्टा साम् ॥ १ ॥ १ ॥ इत्यलं प्रश्नवितेन ।

(१) व्याप्त्यारोपाद्व्यापकप्रसञ्जनं तर्कलक्षणम् । यदा अविज्ञाततत्त्वेऽर्थकारणोपपत्तित तस्यज्ञानार्थमूहस्तर्कः न्या० ८० । १११ । ४० । अयमर्थः—तर्कइतिलक्षणनिर्देशः । कारणोपत्तितङ्गाइति लक्षणम् । अविज्ञाततत्त्वेऽर्थेत्तत्वज्ञानार्थमितिप्रयोजनकथनम् कारणं व्याप्त्यम् । तस्योपपत्तिरारोपः, तस्मात् चइः पारोपः अर्थत् व्यापकस्य, इति । अच्चतकीनिप्रभाष्टसमृद्धो न प्रभाष्टान्तरम् । अपितु प्रभाष्टानामनुयाइका तस्यज्ञानायकव्यते । वात्यरा० भा० (१११ । १)

(२) किंच तर्को धूमाद्योर्ध्यादितपते (धूपतस्यमाने) कार्य

ठी०—अब व्याप्तिग्रह के उपाय को दिखलाते हैं “व्यभि-  
चारस्येति”, पदार्थों के परस्पर व्यभिचार का न प्रहणहोना तथा  
उइचार का प्रहण होना व्याप्तिस्वरूप के प्रहण में कारणी भूत  
है। व्योक्ति व्यभिचार ज्ञान प्रतिबन्धक है अतः उसका अभाव  
कारण है और जहाँ पर बार २ सहचार दर्शन होने पर भी व्यभि-  
चार गंका नहीं दूर होता वहाँ पर तर्क (अह) की अपेक्षा होती  
है। सैसे विसी ने कहा कि पर्वत में ‘धूम हो परन्तु वन्निह न हो  
ऐसी शक्ति होने पर तर्क ढारा टूर करनी चाहिय व्याप्ति के  
आरोप से जो व्यापक का आरोप हो ऐसे तर्क कहते हैं उदाहरण  
यदियह पर्वत वन्निहमान् नहीं है तो इसमें धूम भी नहीं  
होना चाहिये यहाँ पर ‘व्याप्ति’ वन्निह का अभाव है और  
धूम का अभाव व्यापक है तर्ककर्ता का यह भाव है कि  
वन्निह और धूम का परस्पर कार्यकारण भाव है वर्द्धकि जब २  
मण्डकादिको निष्पत्ति के स्थिरे धूम की आवश्यकता होती है तब २  
नियम से वन्निह (चाग) काला आलाता है अतः मिह दुषा कि  
धूम वन्निह से उत्पन्न होता है तो वन्निह भी अवश्य है वर्द्धकि  
कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता अन्यथा कार्य कारण भाव  
ही नहीं होगा। इस तरह का कार्य कारण भाव भी असञ्ज  
इए अनिदिट्ठाणादन तर्क कहाता है ॥

कारणभावप्रसङ्गनव्ययो व्यभिचार शक्तानिदर्शन्त्वयेति । व्यय  
व्ययद्वितीयमित्यतिरिच्छदात्मटे तव्यया - यद्यनिदर्शनिर्धन्त्वा  
व्ययद्वालिहित्येनानिदर्शनेपूर्मद्वयमरतोत्यपि प्रतीयते ।  
अताऽपित्यत्वनिदर्शनित्यकोटिहयद्विषयप्रस्तवाय व्यष्टिर्थान् । विद्यंवप  
वेत्यपरेषादुः । व्यष्टिर्थुदिव्ययः इमरचं एवेत्यलद्वया ।

साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा ।

स उपाधिर्भवेत्स्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते ॥१३८॥

टी—जिस अनुमान में उपाधि लगावे वह दुष्ट होता है, इससे अनुमान की रचना में शुद्धि के सिये उपाधिका जानकारी भी चपेक्षित है; वधीकि उपाधिका यही प्रयोजन है, जिस अनुमान में उपाधि लगाय, वहाँ व्यभिचार का अनुमान कराके उस अनुमान (हेतु) को दुष्टकर देता है, इसलिये उसके स्वरूप का निरूपण करते हैं। 'साध्यस्येति' जो धर्मसाध्य का व्यापक हो (साध्यके किसी भी अधिकरण में जिसका अमाव न रहे) और हेतु का जो न व्यापक हो (हेतु के किसी एक अधिकरण में जिसका अमाव रहजावे) उस धर्म को उपाधि कहते हैं। उस 'उपाधि' का 'निष्कर्ष' अर्थात् यथार्थ सार आगे दिखताते हैं॥१३८

सर्वेसाध्यसमानाधिकरणाः स्युरुपाधयः ।

हेतोरेकाश्रये येषां स्वसाध्य व्यभिचारता ॥१३९॥

टी—सर्व ही उपाधिस्वरूप धर्मसाध्य के साथ समानाधि करण छोते हैं अर्थात् साध्य के व्यापक होते हैं जिन उपाधिस्वरूप धर्मों का हेतु के एक आश्रय में स्थ (अपना) और साध्य का व्यभिचार होता है॥

(१) साध्यव्यापकत्वे सति साधना व्यापकत्व सुपाधिक्षम्यम् ।  
उदयमाचार्यमते उपाधिपदं योगदृढम् । अव्ययुपत्तिः—उपाधिपदं  
पर्तिनि आदधाति संक्रांत्यति इवीर्थं धर्ममित्युपाधिः रति । इत्थं  
न धर्मशान् वद्देहि त्थादो धूमरामपादिग्रन्तपाधिः ।

( शिवरात्रि व्रत स्तुति )  
व्यभिचारस्यान् ९मानमुपाधेस्तुप्रयोजनम् ॥

टी०—व्यभिचार का अनुमान कराना उपाधि का प्रयोग मेरे इसी को संष्टट्ट करता है अमुमान मेरे सदा हेतु व्यापक साध्य होता है। परन्तु उपाधि युक्त अनुमान मेरे साध्य का व्यापक उपाधि यदि इसु का व्यापक नहीं तो उपाधि से न्यनदेश मेरे इसे बास्तो साध्य कहा से हेतु का व्यापक होगा इसी युक्ति से उपाधि बाले अनुमान मेरे व्यभिचार देते हैं उसाकि कि “पर्वती धर्मशान् वन्देः महानपवत् इम् व्यभिचारी मेरे पाद्रेन्धन सयोग उपाधि है यह पाद्रेन्धनसयोग (गीली लकड़ीका सबन्ध) धूम का व्यापक है अर्थात् विना इस पाद्र का एष के संबन्ध से धूम नहीं होता और वन्दि का अव्यापक है कि वन्दि को अधिकरण कोइ पिण्ड मेरे पाद्र का एष के संबन्ध नहीं है, तो उपाधि, सत्य आदेन्धनसंयोगमेरे घटित होगया अब प्रयोजन दिखता है तथाहि इस अनुमान मेरे धूम व्यापक पाद्र का एष सयोग जब वन्दि का व्यापक नहीं है तो धूम साध्य कहा से वन्दि का व्यापक होगा, किन्तु यह अनुमान व्यभिचारी है यह बात उपाधि से सिव हुई।

१—१-व्यभिचारोन्मायकहवेनोपाधेद्वित्वम् । तथाहि साध्य व्यापक उपाधि वसादृथ्यावत्तमामः सन् स्वव्याप्यं साध्यमादाय व्यापत्तेः । व्यापक निष्ठतो व्याप्यनिष्ठतेग्रावयकत्वात् । तथाहि साध्याभवतिएत्ये विषवद्ये वर्तमानो वेत्यव्यभिचारोभवेति । तदुलम् । व्यभिचारोन्मये कुदेन्मुपाधिर्वाति दोषताम् । एतदेवति संवेदपापीति परोयषम् । व्यभिचारोन्मयस्वेवम् । व्ययंहेतुः माहौव्यव्यभिचारी साध्य व्यापकोर्पाधि उपभिचारित्वात् देवत्य व्यापक व्यभिचारीवत्तद्वापाद्यव्यभिचारी, इति ॥

शब्दोऽप्सानयोनेव पृथक् प्राप्तिष्येतोऽहेन।  
अनुमान गतार्थत्वादिति, वेशेषिकं सत्तम् ॥

तन्न सम्युग् विनाद्याप्तिवोधं शब्दादिवोधतः १४१

टी०—(वैश्विक) कणाद मनि के मत में शब्द प्रमाण और उपमान प्रमाण पृथक् नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों का अद्वीकार है शब्द प्रमाण कृत्य और उपमान काम्य फल अनुमान द्वारा ही मिल होता है इसी लिये कहत है कि “अनुमान गतार्थत्वात्” चर्यात् अनुमान विधया ही इन का

१—अथ, “शब्दो न प्रमाणम्” शब्दज्ञानन्तु लैलिकमेव ।  
तथा च शब्दोऽनुमानएवान्तर्भवति भाष्ये शब्दादीनामप्यनु-  
मानेऽन्तर्भवित्वा अनुमानविधित्वात् । ‘एतानि पदानि स्मारितायं  
संसर्वज्ञानपृथक्काणि, अकांच्छादिमदाप्तोऽप्तोऽपदन्त्वात् गाम्भीर्याजेति  
पदक्रदस्यवत् ।’ इतिज्ञानावच्छेदक्षतया संसर्वमिहिनुमानादेव  
भवति इति पदपृथक्कानुमानेन शब्दो न प्रमाणम् । एवमुपमान  
मवि न प्रमाणान्तरम् । तथाहि ‘गवयपद मपठति निमित्तकम्,  
साधुपदत्वात् ।’ इत्यनुमाननैवाचापि निर्बोह इति वैश्विकाणा  
द्वयमिति ॥

(२) नेयाविकाशतु—‘पृथगेव शब्दोमानम्, शब्दस्यार्थाद्यार्थत्वात्  
नहि ‘यत् शब्दस्तथाघटानयनादिष्ठपाथः’ इतिव्याप्तिः, शब्दस्या  
काश्चर्त्तव्यात्, घटादेवतदहस्तित्वात् । तथा च शब्दोत्तिरिक्तं  
प्रमाणम् ‘शब्दोहप्रस्येति’ इत्यनुवाचमायमस्या ज्ञानस्य प्रत्यक्षानु-  
मित्यादि प्रतीतितो विलक्षणत्वेन साक्षग ज्ञानकरणत्वेन मित्यर्थिति,  
इत्याहुः । प्रमाणस्य प्रमाणान्तरत्वेतु प्रागेव समाधायि, इतिपुनरेव  
तदुक्तेष्वगम्भुषेवितम् ।

प्रामाण्य दे कुछ स्वतन्त्रता से नहीं है इस में वैदेयिकों का यह भाव है कि जैसे "अनुमान का विषय परोक्त होता है ऐसे ही शब्द का भी होता है और जैसे अनुमान प्रमाण में व्याप्तिरूप संबन्ध (स्थिरतापूर्वक संबन्ध) की आवश्यकता होती है ऐसे ही शब्द प्रमाण में भी संबंध की अपेक्षा होती है और जैसे प्रत्यक्ष से धूम को देख कर अग्नि का अनुमान होता है ऐसे ही शब्द को मुनकर अर्थ की प्रतीति होती है इत्यादि युक्तियों से शब्द अनुमान ही है।

अब इसका समाधान नैगायिकारते हें 'तन्नेति' इत्यादि से यह आप का पूर्वोक्त मिदान्त ठीक नहीं है क्योंकि व्याप्ति बिना भी शब्दादि से शब्दबोध अनुभव सिव है अर्थात् जो अनुमान का फल अनुमिति है वह व्याप्ति ज्ञानके बिना कभी नहीं उत्पन्न होती और शब्दबोध तो उससे बिना भी शब्दादि से उदय होता है अतः फल की तथा सामग्री की भिन्नता से शब्द एवं ग्रन्थका प्रमाण है जैसे शब्द दो प्रकार का है एक पदस्वरूप दूसरा वाक्य स्वरूप उनमें वाक्य तो सम्बन्धज्ञान रहित भी वाक्यार्थबोधन कराने में पर्याप्त है क्योंकि नतन निर्मित इनके मुनने से पद सक्तार वाले पुरुषों को उसके अर्थ की प्रतीति देखी गई है॥

वह वाक्य दो प्रकारका है सौकिक तथा वैदिक सौकिक के बीच आपोक्त ही प्रमाण है क्योंकि पूर्व में भूम प्रमाद विप्रस्था (वक्तव्य वरने की इच्छा) होती है अतः सर्व वाक्य प्रमाण नहीं है और वैदिक सो दूरदूत होने से सर्वही प्रमाण है अतएव वेद ही एततः प्रमाण अर्थात् अपने कहे हुए प्रदाय की स्तुतता निष्ठय के बिंदु दूसरे किसी प्रमाण को प्राप्तय कता नहो रखता परन्तु

अन्य समस्त ही इत्यादि वेदमुक्तक होने से ही प्रमाण हैं (य०) (३) वेद तो अनादिहै फिर ईश्वरोक्त कैसे । वेद औरवेद के अर्थात् पूर्व विशेष ईश्वरोक्त है वर्थोकि यह भी धार्य समृद्ध है महाभारत आदि की न्याये इस अनुमान छारा इसकी औरवेदत्व सिद्धि है । (य०) ईश्वर का तो शरीर नहीं है तो मुखादि का अभाव होने से वेद का उच्चारण कैसे हुआ (४०) शरीर रहित होने पर भी अपने हित अहित के प्राप्त करने और परित्याग करनेके उपाय को म जानते हुए पूर्णों की देखता हुआ संतप्त होकर पितृसदृश वह सर्वध वर्धोकर विना उपदेश करने के रहस्यता है अतः महा-

(१) लौकिकवावद्भिन्नवावधृत्यवेदस्य लघ्वम् ।

तासांच वृक्षशाखानामेकस्माज्जन्मवीजतः ।

तथैव सर्वशाखानामेकस्मात्पुरुषोत्तमात् ॥१॥

तदुक्तम्—कर्तायएवजगतामखिलत्तमवृत्ति कर्मप्रप-

चपरिपाकविचित्रताज्ञः । विश्वात्मनातदुपदेशपराः

प्रणीतास्तेनैववेदरचना इतियुक्तमेतत् ॥ २ ॥

तथा च श्रुति इति सूचादीन्येवोक्तान्यायं समर्थयन्ति “योम् शाण्विदधाति पूर्वम् । यथ निश्वसितं वेद इत्यादि यो वैवेदान् प्रहिषोति तस्मै । तं ह देवमात्म बुद्धि प्रकारं सुमुकुर्वेगरणमहे प्रपद्ये”(यजुः)“तद्वचनादाम्ना यस्य प्रमाण्यम्”(वे० १।१)“युग्मान्ते इन्तर्हितान् देवान् सेतिहासान् महर्षयः सभिरेतपसापूर्वमनुद्भावाः इवंमुदा (स्मृतिः) परन्तु “कर्मवेद एवान्ने रजायत् यजुर्वेदोवायोः शास्त्रवेद प्रादित्यात्” इत्यादि श्रुतेस्तु ईश्वरत्याग्न्यादेः प्रेरकस्येन तिर्मातपरस्वंगम्यते ।

के छद्य में, अपने ज्ञानको प्रकाशित करता है और फिर तद् ज्ञान  
आगे प्रकाशित होता है अथवा वह भी शरीरी ही है पुरुषके अदृष्ट  
से कान्ता को शरीर की न्यार्ह इस र अदृष्टी से ही रवेच्छा प्रयुक्त  
उसके शरीर को उत्पत्ति हो सकती है अतएव चतुर्भुज आदि का  
चरण भी होता है परमाणु ही ईश्वर का शरीर है कई ऐसा कहते  
हैं कई लोग भूताध्य न्याय से परमात्मा का शरीर मानते हैं क्षेत्र  
कर्म विपाकाशयेरपरासृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सप्रदाय

(३०) वेदप्रमाणं पुरुषोऽत्याध्ययस्याप्यते ।

(३१) वेदात्त्वं पुरुषसिद्धिति कथन्ते तरेतराश्याप्ति ।

(३२) एनुभानात्प्रसिद्धं कर्तरिवेदवावैस्तत्प्रतीतेदपो ।

इलनमिष्यते न त्यगमैकाश्चरणएवकर्च वगम ।

(३३) पुरुषसुहेऽन्यचापिच वदत्तयो इत्येवाघोष श्वयतेवत्योच  
॥ चटगयजु सामान्येवगृष्णन्ते तथाहि—“तस्माद्यजु”

“ चटच सामानिजन्निरे ” इतिपुरुषसूत्रम् । च्योधर्ममधर्म  
दैघमित्यादिमत्ताभारतेचहश्यतेचित्कायमर्थवेदेन ग्रन्थत्यप्रत्यपादि  
टोकायामिनि (३४) अर्थवेदस्यापिच वीभागविग्रेषत्वान्नचयोवहिम्  
तत्वमित्तिचयोपदेन तस्यापि सप्त इति न तदपासाध्य विचि  
त्रकर्त्तुते ॥

येदोऽपोयेष इति सीमासक सिद्धान्तः । सथा च तेषाप्रयोगः  
वेदाध्ययन गुर्वद्ययने पूर्वकं वेदाध्ययनत्वात् इदानीन्तः । इययनवत्  
इत्यनुमानेनानादित्वं साध्यन्ति ।

(४) यदातरोविचिप्ता याचा भवन्ति न च कात्स्वन पूर्वकस्त  
पञ्चमेकस्यां याच्यायो मन्त्रिहित भवतिकिंतु काश्याचित्कस्त्याचित् ।  
एव वेदस्यापि याच्या “ एवग्रामपदेयिन्यो विचिन्तादत् ।

प्रवर्तकों नुगाइकरच "भयं भविदा ( मिथ्याज्ञान ) अहिता ( बुद्धि और आत्मा को एक रूप से जानना ) अभिनिवेश ( मरणभय ) राग और हेतु यह पाठ्य प्रकार की क्षेत्र हैं तथा शुक्ल जप्त आदि कर्म विपाक उनके जात्यादि फल और आशय कर्म वासना इनसे जिसका कोई सम्बन्ध नहीं गरीत साध्यवेदादिके निर्माण के लिये गरीत को आश्रित करके संप्रदाय प्रवर्तक नामवेदका प्रचार करने वाला और अनुगाइक अर्यात् कार्यज्ञान बनाने को शिक्षा द्वारा शिष्या करने वाला जो वह ईश्वर है ऐसा योगमास्त्र का उद्घास्त है अतः शूलिके प्रारम्भमें ईश्वरके विनाश्यवहार को न सिद्ध होनेसे उपर्युक्तका होना तथा उसका सर्वज्ञभाव अवश्य मानने योग्य है ( शं० ) भारतादियन्थोंमें तो व्यास कर्ताका व्यवण है अतः वह अनित्य ही परन्तु वेद का तो कर्ता शुत नहीं असः यह अनित्य कैसे ( उ० ) यदि ऐसा पूछो तो वेद में प्रज्ञापति कर्ता स्मृत है । ( शं० ) प्रज्ञापति का नाम कोर्तम वेद मन्त्रों की श्रेष्ठता के लिये है ( उ० ) ऐसा तो भारत में भी व्यास का नाम इसी प्रयोजन के लिये समझा जायगा ( शं० ) वेद के निर्माण कर्ता को आज तक किसी ने भी कहीं नहीं देखा ( उ० ) तो क्या व्यास जी को पापके पिता अथवा पितामह जी मे कहीं देखा है । ( शं० ) यदि कहो कि भारतकर्ता व्यास है यह सर्व काकथन है ( उ० ) ऐसे ही वेदकर्ता प्रज्ञापति है यह लोक में प्रसिद्ध है किंच्च रथवद्य भी माता प्रथवा पिताकी वधम से उपदेश किया हुआ कर्म ज्ञम बद्धी करते हैं जिससे इसे माता प्रिता पर यथार्थ बोने का निश्चय है उसी तरह से अनेक वलेश और धर्मादिके व्यय में सिद्ध होने वाला जो वेदसे कहा हुआ कर्म समुदाय व्यासके उपदेश देने वाले यथार्थ वाला कर्ता का समरण न करके ही बुद्धि युत मनुष्यी से किथा जाता है । यह कथन

अति मूल्यता का वोधक है। (गं०) वेद की तो काठकादि भेद से अनेक शाखा हैं तो सर्व का एक ही कर्ता है कौसे जाने किन्तु जैसे अनेक चर्णय अनेक कर्ताओं से रचित होते हैं। ऐसे ही यहा पर भी अनेक कर्ता वर्गों न माने। (उ०) वेद सर्व ही एक कर्ता पर मात्मदेव से रचित है। जिससे परमपर सवन्ध रखने वाले पदार्थ का इनमें उपदेश वृष्ट होता है। यथा एक ही यज्ञ स्वरूप कर्म चारों वेदों में कहे हुए और एक ही अर्थ में सवन्ध रखते हुए अङ्गोंसे मिला दुभा प्रथुक होता है। उसमें हीन (होता का कार्य) क्रहग्वेद से आ॒र्यव (आ॒र्थ्यु का कर्म) यजु॑वेद से और औहा॒ष (उहाता क्रत्विक् का कर्म) सामवेद से और ब्रह्मत्व (ब्रह्मा का कर्म) अथर्व वेद से सिह होता है। और ऐसे पै॒प्रस्त्रादि ग्रांख विशेषों में जो उपदेश है। वह २ तत्त्व अङ्गतस्तकर्म में अपेक्षित होता है यदि तत्त्व ग्रांख और वेद भिन्न २ कर्ता में रचित हो तो एक अर्थ में सर्व कथन से यह मिह हुआ कि सर्व वेदोंका तथा (४) सर्वग्रांखों का एक परमात्मा ही कर्ता है। (गं०) यदि सर्वग्रांखों का एक ही कर्ता है। तो यह काठक है। यह पै॒प्रक्ष है। इत्यादि ऋषि नामों का ग्रांखों में निर्देश कौसे। (उ०) नाम निर्देश तो प्रकृष्ट अव्ययन प्रयुक्त अथवा विशिष्ट व्याख्यान कर्तृकर्त्तव से जानना चाहिये।

**त्रैविद्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः ॥**

**द्वैविद्यं तु भवेद्व्याप्ते रन्वयव्यतिरेकतः ॥१४२॥**

**अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादधोच्यते ॥**

‘टी०-पव लिङ्ग’ ( अनुमान ) के तीन भेद कहते हैं । ‘बेविश्य मिति’। केवलान्वयि, केवल व्यतिरेकि । और अन्तर्य व्यतिरेकि के भेद से अनुमान तीन भेदका है । अब प्रमाणः सच्चण और उदाहरण दिखलाते हैं । जिसका विपक्ष न हो वह केवलान्वयि है । “शब्दोऽनिषेदः प्रमेयत्वत् घटवत् । यहाँ पर अभिषेयत्व साध्य है परन्तु उसका अभाव स्थल कोई नहीं मिलता तथौंकि सर्व ही परन्तु अभिषेय ( नाम का विषय ) है । अतः प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी हुआ जिसका सपक्ष न मिले वह केवल व्यतिरेकी हेतु होता है । जैसे “जीव वहश्चरीरं सात्मकं प्राण। दिमस्त्वादनयदेवं न तदेवं यथा पापाणः” यहाँ पर जीव शरीर तो पक्ष है । उसमें सात्मकत्व अर्थात् आत्मा साध्य है और प्राण। दिक्ष हेतु है और पापाण दृष्टान्त है यहाँ पर जहाँ २ आत्मा नहीं है वहाँ २ प्राण। दिक्षा भी नहीं है । इसका दृष्टान्त पापाण मिल जाता है । अतः व्याप्तिरेक व्याप्ति तो सिव हीराई परन्तु जहाँ २ प्राण। दिक्ष हैं वहाँ २ आत्मा है ऐसा दृष्टान्त कोई नहीं मिलता वयोंकि जीवशरीर मात्र ही तो पक्ष है । और दृष्टान्त पक्षसे भिन्न होता है । और अन्यस्थल में हेतु और साध्य ही नहीं है । अतः सपक्ष के न होने से प्राण। दिमस्त्व हेतु केवल व्यतिरेकी हुआ । और जिसका सपक्ष और विपक्ष उभय होय अर्थात् जिसकी अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति दोनों होय वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी होता है । जैसे “शब्दोऽनिष्ट्यः कार्यं त्वाद् घटवत् व्यतिरेकेगगनवत्” यहाँ पर जहाँ २ कार्यत्व है । वहाँ २ अनिष्ट्यत्व है । इसका दृष्टान्त सपक्ष घट हुआ और जो अनिष्ट्य नहीं है वह कार्य भी नहीं है दृष्टान्त विपक्ष भाकाश है । अतः कार्यत्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी है । अब व्याप्ति के दो भेद कहते हैं । अन्वय और व्यतिरेक भेदसे व्याप्ति दो पकारकी कहते हैं ।

है ॥ १४२ ॥ उसमें अन्वय व्याप्ति का स्वरूप तो पूर्वे काहुने है अवश्यतिरेकव्याप्तिका स्वरूप कहती है ॥

**साध्याभावव्यापकत्वे हेत्वभावस्य यन्द्वेत् ॥ १४३ ॥**

ठी०—साध्याभाव निष्प्रित हेत्वभाव से जो व्यापकता वह अवश्यतिरेक व्याप्ति कहाती है ॥ १४३ ॥

**अर्थापत्तेस्तु नैवेह प्रमाणान्तरतेष्यते ॥**

**व्यतिरेकव्याप्तिवुद्धचाचरितार्थीहिसायतः ॥ १४४ ॥**

ठी०—अब मीमांसक और वेदान्तियोंकी मानो हुई अर्थापत्ति की अंगीय में प्रमाणान्तरता का खण्डन करते हैं 'अर्थापत्तेरिति' न्यायमें अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण नहीं है किन्तु अवश्यतिरेक व्याप्ति आत्म इसकी गतार्थता नाम अन्तर्भूष वै जैसे मोटा यह देवदत्त दिन में नहीं खाता ऐसा देखने अवश्य सुनते पर दिन को न खाने वाले का राचिकी भोजन विना भोटा पन हो नहीं सकता इस ज्ञान के अनन्तर देवदत्त राचिकी अवश्य खाता है यह निष्पैष हीता है इस निष्पैषके साधन (राचिभोजन के विना भोटापन न होना इस्त्या कारण ज्ञान) अर्थापत्ति प्रमाण मानो है और राचिभोजन को विदि फल स्वरूप अर्थापत्ति है यहाँ प्रमाण और प्रमाणी

(१) उपादानेमोपादककरपनमर्थापत्तिः 'यहिगायदनुप पन्तं तत्त्वोचपादकम्' इति राचिभोजनमपादकं 'धोमहवमुपया-  
पुम् । अर्थापत्तिः करपना ' इतिशुष्पत्तिकरपरा, करणेतु, अर्थ  
स्वापत्तिः यायारतिश्युष्पत्तिदेवदत्त्या अब मीमांसकामप्रमाणयः  
करपयाप्ति, अर्थापत्तिमि, इतिविषयकामुभवाहिनैवामुमितितत्त्वति ॥

एक ही संज्ञा है जैसे प्रत्यक्ष ही प्रमाण और प्रमाणी भी संज्ञा है सो यह रात्रि भोजन मिहि तो व्यतिरेकी हेतु सेहो होसकती है जैसे अर्थ देवदत्तो रात्रौ भुड़क्से, दिवऽभुजजानत्वेसति पीतत्वात् यत्तु रात्रौ नभुड़क्से सदिवाऽभुजजानत्वे सति पीनो नभवति, यथा दिवा रात्रौ चामोजी, इति अर्थ यह देवदत्त रात्रिको खाता है दिनको न खाकर मोटा होने से जो रात्रिको नहीं खाता वह दिन को न खाकर मोटा भी नहीं होता जैसे दिन और रात्रिको न खाने वाला यहाँ पर देवदत्त पश्च है रात्रिको खाना साध्य है दिन को न खाकर मोटा होना हेतु है और दोनों समय न खाने वाला दृष्टान्त है इस तरह जब व्यतिरेकी हेतु से ही रात्रि भोजन सिव होगा तो अर्थापत्ति भी व्यतिरेकी का ही दूसरा नाम है पृथक् प्रमाण नहीं है ॥ १४४ ॥

### ‘सुखतु जगतामेव काम्यं धर्मेणजन्यते ॥

ठी०—बुद्धिका काठर्य होनेसे दृष्टि के पनन्तर सुखकानिष्ठपण करते हैं ‘सुखमिति’ यावज्जीवों की इच्छा के विषय तथा गङ्गा

(१) इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वेसतिभावत्वंसुखस्य लक्षणम् अत्सुखेच्छाधीनभोजनादावतिथ्यादितशरणायेतरेच्छानधीनेतीच्छा विगेषणम् । दुःखाभावस्यकाम्यत्वेऽपिस्वतःपुरुषायैत्वेऽपिच तस्य भावत्वाभावाननत्वातिथ्यादितरिति । वेदान्तिमने च सुखंहि-विधम्, नित्यं जन्यं च । तत्त्वनित्यंवद्वस्वरूपसुखमजन्यम्(अनित्यं) तत्त्विषयसंपर्काद्वैषयिकंसुखमिति । पातस्तजलारतु-वैषयिकसुखामा परिणामदुःखादिभिर्दुखत्वमेवयैराग्यार्थंमन्यन्तेतथा च सूखम् परि षामतापमस्कारदुःखमुख्त्वमेवविवेकिमइति (पात०पा० २ । सू० १५ )

हनाम, तीर्थयाचा, यज्ञ, सपस्या आदि उत्तम कर्मांके द्यार्पार से जो उत्पन्न हो, ऐसे पदार्थ को सुख कहते हैं वह सुखन्यायमत में चार प्रकार का है वैष्णविक, आभिमानिक, मानोरथिक, और आभ्यासिक प्रथम विषयके प्रत्यक्ष से उत्पन्न हितीय राष्ट्रादि के, अधिकार लिनित गर्व से उत्पन्न हतीय विषयके चिन्तन जन्य और चतुर्थ सूर्य नमस्कारायासादि जन्य लाभव रूप होता है (गं०) गौतम दर्शन में सूच में सुख पठित नहीं है किर आप वर्णी लिखते हैं। (उ०) गौतम सूच में सुखकी न गणन का यह प्रयोजन है कि वैराग्य हो अर्थात् सुखकी भी दुःखरूप से चिन्तन करने से पुरुष को वैराग्य होगा ना कि सुख के आवीकार में आत्मर्थ है जो जीव दुःखाभाव माव को ही सुखमानते हैं उनके मतमें आनन्द रूपता से जो अनुभव है वह नहीं हुआ चाहिये तथा मैं हितको प्राप्त कर्हना और अहित को त्यागूना इस प्रकार को हितिध प्रबृत्ति भी नहीं होनी चाहिये। कर्त् जीव सुख और दुःख को भी ज्ञान का ही भेद मानते हैं परन्तु वह ठोक नहीं वर्णीकि ऐसा मानने से अनुभव विरोध दर्शारहोगा वथा मैं सुखी हूँ वा दुःखी हूँ इस अनुभव से मैं ज्ञानता हूँ यह अनुभव विद्य है। यह सुख आत्मधर्म है यह नीय-पिक सिद्धान्त है। चित्तधर्म सुखहै यह मात्रत्व कहते हैं। (गं०) यदि सुख आत्मामें मानोगे तो धर्म (सुख)को हित चय प्रयुक्त आत्मामें विकार प्राप्त होगा (उ० धर्म (सुख) गत अनित्यत्वादि से नित्य रूपरूप आत्मा को इनिकुल नहीं हो सकती है) ॥

**अधर्मजन्यं ९ दुःखं स्यात्प्रतिकूलं सचेतसाम् १४५**

---

इतरटेप नर्धीनहेपविषयत्वं दुःखाय लक्षणम् । अधर्मर्यादावति व्याप्तिशुद्धामाय, इतरत्वात् धीनेतिविषयविषयदत्तम् । तेन, यद्य

टी०—अब सुखका प्रतिष्ठनिष्ठ होने से सुखके अन्तर दुःख का निरूपण करते हैं ‘अधर्मजन्यमिति’ जो अधर्म (पाप) मे उत्पन्न हो और किसी पुरुषादि को चित्त को भी अच्छानप्रतीत हो उसे दुःख कहते हैं दुःख और सुखके परस्पर भेदको पश्चरत पादाचार्य आदिको ने कार्य भेद से दिखलाया है जैसे दीनता सुखमालिन्य आदि दुःख कार्य हैं और सुख प्रमादादि सुख कार्य हैं दुःख भी भावमा का गुण है और साख्य मेरजोगुण का कार्य बुद्धि का ही परिणाम विशेष दुःख माना है साख्य मे दुःखके तीन भेद माने हैं, यथा—१ आध्यात्मिक, २ आधिदैविक; और ३ आधिभौतिक और स्थाय मतमे सुख की न्याइं दुःख भी चार प्रकार माना है इस दुःख के कर्तृएकत्रिक सिद्ध क्विकवपलता प्रन्थ में कारण भी दिखलाए हैं तथाहि । १ परतन्त्रता,—आधि,(मानसिक चिन्ता, व्याधि,(वातपित्त इन्लेप्मजनितरोग) मानचयुति, शत्रु, कुभार्यी निर्धनता, कुद्रामवास, कुस्वामिनेत्रा, वहुकन्या, बुद्धापा दूसरेके घरमे निवास दीभार्या दुष्ट भृत्य भृत्यादि । सुख और दुःख दोनोंही सिद्धान्तमे अनित्य हैं कहूँ नित्य सुख भी मानकर उसी को प्राप्ति को ही मोक्ष मानते हैं परन्तु दुःख किसी के भी मत मे नित्य नहा है ॥ १४५ ॥

**निर्दुःखत्वे सुखेचेच्छातज्ज्ञानादेवजायते ।**

**‘इच्छातु तदुपायेस्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि ॥१४६॥**

टी०—अब इच्छा का निरूपन करते हैं । निर्दुःखत्व इति दुःखाभाव तथा सुख की अपेक्षा वा कामना ( चाह ) को इच्छा हेष्यसप्तजन्यदुःखेष्यजन्यत्वात् नातिव्याप्तिः । वाधनास्त्रशंखः ( गो० १ । १ । २१ ) वाधनायीडातदेवत्त्वशंखर्षयतदित्यर्थः ( गो० ४० १ । २१ ) १ इच्छात्व सामान्यसी, इच्छा ॥

कहते हैं इनदोनों के उपाय से यदि जीवको इष्ट साधनता पकारका ज्ञान होय तो उपाय विद्यियणी इच्छा होती है अर्थात् इच्छा दो प्रकारकी है फल विद्यियणी द्वितीय उपाय विद्यियणी मुख्य फल भी दो भेदके हैं प्रथम सुख और द्वितीय दुःख का अभाव फलकी इच्छा में फल का ज्ञान ही कारण है उस में इष्ट साधनता ज्ञान की आवश्यकता नहीं है वयोंकि मुख्य ही तो अन्तिम फल है इसी लिये मुख्य ज्ञानमात्र में ही सुखकी इच्छा उत्पन्न होजाती है और उपायेच्छाके प्रतितो इष्ट साधनता ज्ञान अर्थात् यह वस्तु मेरे सुखका साधन है ऐसे ज्ञान होनेसे उस अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है यथा स्वर्ग रक्षण फल का उपाय याग है तो याग विद्यियणी इच्छा के प्रति 'यागो मदिष्ट साधनम्' अर्थ-याग मेरे इष्ट (स्वर्गोत्तमका फल) का साधन है साख्य में तो इसे भी चित्तका धर्म माना है और नित्य और अनित्य भेदमें फिर इच्छा दो प्रकार की है उस में जीवकी तो अनित्येच्छा है और ईश्वर की नित्य है तथा "सर्वे जगद्गूयात्" इस प्रकार से समृद्धालम्यनात्मिका है और मायावादियोंके मतमें तो ईश्वरेच्छाभी आकाशादिकी नारं अनित्य है काम अभिलाष, राग, मन्त्रालय उपधा (परदम्भनेच्छा) कारण अपने प्रयोजनकी अपेक्षा छोड़ कर दूधरेके दुःखदूर करने इच्छा) भाव आदि किया के भेद सभी इच्छा के ही भेद हैं ॥ १४६ ॥

**चिकीपौ कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छाचयामभवेत् ॥**

**तच्छेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत् ॥ १४७ ॥**

टी०—किसी काम करने को इच्छा की चिकीपौ कहते हैं

१ छतिसाध्यत्वप्रकारिका छतिसाध्यकियाविद्यविषयोच्छा चिकीपौ । यथा—'पार्वकृत्यासाधयामि' इत्याकारिकेच्छा ॥

अर्थात् छतिसाध्यत्व प्रकारक इच्छा का मान चिकीर्षा है उस चिकीर्षा के दो कारण है एक तो यह कि छति साध्यत्व प्रकारक ज्ञान ( अर्थात् इस काम को मैं अद्भुती तरह करसकता हूँ ) इस अपनी सामर्थ्य का जानना और दूसरा इष्ट साधनत्व ज्ञान अर्थात् इस काम के करने से मेरा यह प्रयोजन सिह होगा ) इस प्रयोजन सिह का जानना । और यह भी जानना कि यह दोनों ज्ञान केवल चिकीर्षा के कारण नहीं, प्रत्युत कार्यमाल के कारण माने हैं और यानी को सोटे से मारने की समार्थ्य मनुष्य में भी है, तो भी भक्षे पुरुष इस काम को नहीं करते, इस में यही हेतु है, किपानी को सोटे से मारने से कछ प्रयोजन नहीं सिह होता तो मानो इष्ट साधनता ज्ञान नहीं रहा । इसी प्रकार स्वर्ण पर्वत के एक गिरेर डडा खाने में प्रयोजन सिद्धिका ज्ञान है भी, महात्मा कोई भी इस काम को नहीं चाहता तो इसमें यही कारण है, उसके गिरेरतक पहुँचने की सामर्थ्य किसीमें नहीं, अर्थात् छति साध्यता ज्ञान नहीं रहा इस से तिह हुआ कि दोनों ज्ञान जिम्में ही उसी की चिकीर्षा होती है जैसे अनन आदि के खाने आदि में ॥

**वलवद्दिष्टहेतुत्वमति स्यात्प्रनिगन्धिका ।**

**तदहेतुत्वबुद्धेस्त् हेतुत्वं कस्यचिन्मते ॥ १४८ ॥**

टी०—प्रबलहेप विषयक दुखादि साधनता ज्ञान “इद में महाद्दुख साधनम्” इत्याकारक ज्ञान पर्वति चिकीर्षा का प्रतिष्ठ-स्थान है अर्थात् पूर्वील दोनों कारण रहे भी, और यदि ऐसा ज्ञान, साध पड़े जाये, कि इस कामक करने से मैंकोई बडा भारोदुःख प्राप्त होगा तो कभी उम काम को नहीं करेगा । जैसे विष मधु युक्त अनन के खाने में किसी पूर्ण को, चिकीर्षा नहीं होती और विसों

पुक विडारा के सिद्धान्त में (तत) अलबदनिष्ट के आजनक विषयक  
ज्ञानको उत्तर चिकीर्दा के प्रतिकारणता मानी है ॥ १४८ ॥

### १ द्विष्टसाधनतावृद्धिर्भवेद्द्वेष्यकारणम् ।

१ टो०—हेष का निष्पत्त करते हैं । द्विष्टेत्यादि से हेषके विषय  
द्वुःखादि साधन विषयक ज्ञान हेष का निमित्त कारण है, जब कोई  
प्रदायं वा जीव पधनेको दुःख देता है, तो उस पर जो कोष होता है  
चौर फिर उस कोष से जो इच्छा होती है कि इस का नाश करदे वा  
इस का कभी आखु मे न देख इस कोष बी हेष कहते हैं ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं श्च तथा जावनकारणम् ॥ १४९ ॥

### २ वृ १ प्रपत्नत्रैविष्यं तान्त्रिकै परिदर्शितम् ।

२ टो०—प्रब प्रपत्न का निष्पत्त करते हैं । “प्रवृत्तिरिति”  
प्रपत्न (उत्साह) तीन पकार का है जैसे १२ प्रहृति, निवृत्ति, और  
जीवनयोनि इस भेद से ग्राहकारों ने निष्पत्त किया है ॥ १४९ ॥  
चिकीर्दा कृतिसाध्यष्ट साधनत्वमतिस्तया ॥ १५० ॥

उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत् ॥

३ टो०—और कार्य करने को इच्छा तथा कृतिसाध्यस्व ज्ञान  
तथा कार्य की कारण सामयी लोग सत्यघ, ये सर्व प्रहृति रवद्वय  
यत्न के कारण हैं ॥ १५० ॥

३ प्रवृत्याद्यन्यतमत्वं प्रयत्नस्वम् ।

३ तच्च प्रहृतिर्गुद्धियरोरारम्भ इति । (गो० १।१।१०)  
मनोऽच्छविग्रियभिप्रेतम् । वृहथतेऽमेनेतिवुद्धि । सेयं प्रहृतिः प्रत्येक  
द्युविधा प्रयात् पापात् । प्रयात्, कायेन परिचारम् परिचरणम्,  
दानमिति । वाचा मत्त्रम्, इतम्, प्रियम्, स्वाध्याय इति । मनमादशा,  
पृष्ठा, चरा चति । विर्ययस्व पापादविवा प्रहृतिर्गुद्धस्युपचारः

सांसिद्धिकं द्रवत्वं स्यान्ते मिति कुमथा परम् ॥१५४॥

टी०—प्रथा द्रवत्वका निष्पत्ति करते हैं ‘सांसिद्धिकमिति’ लिख गुणसे सबह होता है वा जिस गुणके संबन्ध से सूखी स्थानी चाहि बहने लगती है; उस गुणको द्रवत्व कहते हैं यह द्रवत्व सांसिद्धि तथा नैमित्तिक भेदसे दी प्रकार का है ॥ १५४ ॥

संसिद्धिर्नु सलिले द्वितोयं क्षितितेजसोऽ-

परमाणाजल नित्यमन्यत्रानित्यं मिष्यते ॥१५५॥

टी०—उपमे सांसिद्धि (अर्थात् आप से आप बिना, किसी उपाय के अभ्यन्ते समशायि कारण में उपजा हुआ) के बल जल में ही रहता है, और द्वितीय नैमित्तिक पृथिवी और तेज में रहता है वह द्रवत्व परमाणु इष्टपूर्ण जल में नित्य है परन्तु और सर्वस्थानी में अस्तित्व है (प०) हिम और करकामें तो कठिनता का दर्शन होता है तो फिर जल में सांसिद्धि कहना युक्त नहीं है । (प०) सब स्थल में स्वाभाविक द्रवत्व जलमें देखने में आता है एस किये मांसिद्धिका का तो निरचय हो है परन्तु हिमकरका स्व-  
रूप कार्य में द्रवत्व नहीं दृष्ट होता है अतः वहाँ पर ऐसा जानना चाहिये कि दिव्य (विद्युत) तेजमें मंदह जलके परमाणुओं का द्रवत्वारम्भ सघात नामक संयोग परस्पर उत्पन्न हो जाता है इसी में जल का द्रवत्व प्रतिष्ठ हो जाता है, अत एव किर भूमिके तेज के विद्युत वर बहने सकता है ॥ १५५ ॥

नैमित्तिकं घनिद्योगात्तपनीय पृतादिषु ॥

१ आपादमदनापापादिकादत्यत्वद्रवत्वस्यत्वम् । तत्त्वदि  
तोवादिभ्यापापात्तपनामेवारप्याद्याद्यतितादमदनाय विशेषत्वम् ॥

१८. द्रवत्वं स्यन्दने हेतु निमित्तं ९ संग्रहेतुतत् ॥ १५६ ॥

टी०—नैमित्तिक द्रवत्व अग्नि संयोग से तपे हुए घृतादिकों में प्रतीत होता है वह द्रवत्व स्यन्दन में हेतु है पर्यात् निमित्त कारण है और चूर्णादिक पण्डी भावसे वही द्रवत्व निमित्त कारण है भाव यह है, कि किसी निमित्त से उपजा हुआ द्रवत्व नैमित्तिक कषातों है जैसा कि चादो, स्वर्ण, लाल आदि वस्तुओं में आग के सबन्ध से और सुहागा आदि डालने से जो द्रवत्व उत्पन्न होता है; उसकी उत्पत्ति में आग, और सुहागा आदि निमित्त हैं इसी से इसको नैमित्तिक द्रवत्व कहने हैं ॥ १५६ ॥

१९. स्नेहो जले सनित्योऽणावनित्योऽवयविन्यसो ॥  
तैलान्तरे तत्प्रकर्पाद्वहनस्यानुकूलता ॥ १५७ ॥

टी०—प्रथम स्नेहका निरूपण करते हैं ‘स्नेहदति’। चिकनार्द को स्नेह कहते हैं यह गुण कैवल जलमें रहता है यह भी सूखी वस्तु के पिंडकांधने में असमशयि कारण है परन्तु जलके परमाणुओं में स्नेह नित्य है और कर्य म इहने वाला सभी अनित्य है (य०) पृथिवीमें अर्थात् तैल स्वरूप पृथिवीमें जो स्नेह प्रतीत होता है और वह जलका नहीं हो सकता अन्यथा वन्धु के प्रति कूल होता अतः जलमें हो स्नेह है यह कथन अयुक्त है (उ०) “तैलान्तरे” अर्थात्

(१) स्नेहद्रवत्व-कारितः संयोगविशेषः (पिण्डीभावः) सहि (संप्रहः) न द्रवत्वमात्रकारितः; काच-काष्ठनद्रवत्वेन १० या इनु प्रपत्तेः । गापिस्नेहमात्रकारितः, स्त्योनैर्घृतादिभिः संप्रहानुप्रपत्तेः । तस्मात्स्नेह-द्रवत्व-कारितः, इति । वैशेषिकीप्रस्कारे ॥

(२) चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः ॥

तेलमें भी जलता हो, स्नेह वै पान्तु तेलमें उसकी छत्काष्टोंहौ ऐ  
इस किंवद्य पागका विदो नहीं पागका विशेषी केवल अपश्चात्  
ऐहै इस अतः पागकी इन भी नहीं होती ॥ १५७ ॥

**४ संस्कारभेदोवेगोऽथ स्थितिस्थापकंभावने ॥**

**मूर्तमात्रेनुवेगस्यात्नमजोवेगजः क्वचित् । १५८ ।**

टी०—यदि संस्कारका निष्पत्ति करते हैं। 'संस्कार भेद इति'  
संस्कार के तीन भेद हैं वेग, स्थितिस्थापक तथा भावना उनमें  
वेग नामी संस्कार मूर्तीमें अर्थात् पृथग्गी, जल, तेज, वायु, और  
मन इस पांचों द्रव्योंमें ही रहता है, और यह किसी स्थानमें  
किंवद्य से और कहीं वेग से उत्पन्न होता है, अर्थात् वेग मिस्त्र्य  
कहीं नहीं होता ॥ १५८ ॥

**स्थितिस्थापकसंस्कारःक्षितोकेचिच्चतुर्विष्णि ॥**

**अतीन्द्रियोऽसौविज्ञेयःक्वचित्स्पन्देऽपिकारणम् । १५९ ।**

टी०—स्थिति स्थापक संस्कार मिहान्त में तो एविशी में ही  
रहता है और अनिस्त्र दोताहै जैसा कि जब किसी हस्तकी गालाकी  
यंत्र के प्रयत्नी और भूकाने; और फिर दोहू दें। तो वह वहाँ ही जा  
ठडरेगी कि जहाँ पहिने खड़े थे, तो जो गुण उस गालाकी मन  
स्थानोंमें इटाकर उनी प्रथम स्थानपर क्षेत्रा ठहराता है, उसे  
स्थितिस्थापक मंस्कार आहते हैं और कर्त्ता अत्यं बहते हैं जि-  
यह स्थिति स्थापक संस्कार एविशी जल, तेज, वायु इन चारोंमें

(१) वेगांश्चन्तपत्तमस्ति भंस्कारस्म । तद्वाम्—“यज्ञातीत्यस्मु  
स्थापात्तमात्मोवस्थारन्तम् । इर्ययस्तदिज्ञातीयः संस्काराद्वप्तुचो  
भवेत्” इति (तात्त्विक्षारथा इत्योऽप्य) ॥

रहता है यह स्थिति-स्थापक अतीन्द्रिय है और किसी स्थल से  
स्थन्द रूप किया का भी कारण है ॥ १५८ ॥

**“भावनाख्यस्तु संस्कारोजीववृत्तिरतीन्द्रियः ॥  
उपेक्षानात्मकस्तस्यनिश्चयःकारणं भवेत् ॥ १६० ॥**

टी०—इसी तरह भावना नाम संस्कार जीव मात्र में रहता  
है और अतीन्द्रिय है अर्थात् इसका किसी इन्द्रिय द्वारा यहण  
नहीं होता उपेक्षा अनात्मक निश्चय अर्थात् वस्तुका दृष्ट अनभव  
उस संस्कार का कारणी भूत है यह संस्कार ० अनित्य होता है और  
किसी घड़े रोग (मिर्गी) आदि में वा बहुत यात्रा से वा सारे  
प्रयोजन की सिद्धि में यह नष्ट हो जाता है ॥ १६० ॥

• स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौहेतरुच्यते ॥

टी०—अब संस्कार होने में प्रमाण दिखलाते हैं । १८३  
इति, स्मरणात्मक ज्ञान में तथा प्रत्यभिज्ञा ज्ञानमें ‘असौ’ अर्थात्  
संस्कार कारण है यहां पर यह तात्पर्य है कि कोई मनुष्य हरिद्वार  
आदि में तीर्थ यात्रा करने गया, वहा उसने किसी महात्मा के  
साथ मिच्छा बनाई फिर वह यात्रा करके अपने गृहकी चला  
आया । दश वर्ष द्यतीत हो चुके कि देवधीन वह महात्मा इस  
जाग्रण के लगर में आया उसे देखते ही इस ११४४ को परम  
पामन्द हुआ; और उसी समय गङ्गा के नील धारा आदि सभी  
स्थान तथा उस महात्मा के रहने का रथान इन सब का रमरण  
हुआ, इस रमरण का कारण भावनाद्य संस्कार है और चार  
मकार के अनुभवों में से किसी भी प्रकार का अनुभव जिस पदार्थ

ज्ञान, और भोग से भी नष्ट होते हैं (यं०) मगवद्वीता में ऐसा कथा है, कि या है है कि “नामुकं चीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि” अर्थात् कर्मों का नाश भोग के बिना कभी भी नहीं होता तो फिर ज्ञान से कर्मनाश कैसे कहा (उ०) इस वाक्य में भोग, पद से ज्ञान का भी आचेप्र कर लेना यदि ऐसा न हो, तो प्रायद्विचत्ति, से, कर्मनाश कैसे होता और गीता में स्वर्ण श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं “श्रान् रिनः सर्वं कर्माणि भस्मसूत्कुरुते इर्जन्। और श्रुति (४) भी कहती है “चीयन्ते चास्थ कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे” इस लिये इन वाचों के साथ विरोध पढ़ने से ध्यवस्था से ग्राहण कर्म की तो भोग से निष्टुति होती है परन्तु सञ्ज्ञित कर्मों का तो ज्ञान से नाश होता है इस में विवाद नहीं है ॥

“शब्दोध्वनिश्चवर्णश्चमृद्घादिभवोध्वनिः॥१६३॥  
कण्ठ संयोगादिजन्या वर्णस्तेकादयो मताः ।  
सर्वःशब्दोनभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्णते ॥१६४॥

टो०—अब शब्द का निष्पत्ति करते हैं। ‘शब्दो ध्वनिश्चेति शब्द दो प्रकार काहे एक ध्वनि स्वरूप और दूसरा (क) वर्णात्मक अर्थात् संरक्षित भाषा स्वरूप जो शब्द, वंसी, सितार, बंदूक आदि से उत्पन्न हो उसे ध्वनि कहते हैं ॥ १६४ ॥

(४) अथमपीडानुमन्धेया “ मुह्यदः साधुलस्या हिष्पन्तः पापज्ञात्या मिति ”

१ श्रोत्रेन्द्रियसाद्यते मति गुच्छवं शब्दस्य संवचनम् ।

(क) अवैर्यं अनुपत्तिः, ‘शब्दते नेभार्यं इत्यमिधीयते ज्ञाप्यते इति (वातस्या०१ । १ । १)

टीका—और कंठ तालु आदि स्थानों में वायु के संयोग से जो अच्छ उत्पन्न होते हैं, उन्हें वर्ण कहते हैं वे वर्ण का "ख" आदि भेदसे अनेक हैं, सर्व प्रकार का शब्द समवाय संबन्ध से केवल आकाश ही में रहता है (गं०) दूरवर्ती शब्दका प्रत्यक्ष वर्णों नहीं होता । (उ०) ‘श्रीब्रोत्पन्नस्तु’ शब्द आदि को अवच्छेद से उत्पन्न हुआ शब्द शोक में उत्पन्न हुआ भाव ही प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं (गं०) नृदङ्ग विद्धिन आकाश में उत्पन्न हुआ शब्द श्रीआकाश में कैसे उत्पन्न होगा (उ०) जिस प्रकार शोक में उत्पन्न होता है उसका प्रकार स्वयं मूलकारही ‘वीचीति’ मूल से कहते हैं । १६५॥

**वीचीतरदृन्यायेन तदुत्पत्तिस्तुकीर्तिता ॥**

टी०—वीची तरङ्ग न्याय से (तत्) उस शब्द की श्रीआकाश में उत्पत्ति कही है । भाव यह है कि ढे से जल में कोई ढेला गिरे तो पहिले छोटा सा गोल हृत बन जाता है फिर श्रीघड़ी वह छोटा हृत नष्ट हो जाता है, और एक बड़ा हृत बन जाता है इसी प्रकार छोटे र मिठ कर बड़े से बड़े हृत तब तक उत्पन्न होते जाते हैं जब तक इतना बड़ा हृत उत्पन्न हो लेवे, कि जो उस जलाशय के तटों से जा टकरे । इसी को वीचीतर्दग्न न्याय कहते

(ख) अन्व वैयाकरण आहुः—‘परा, परयन्ती, मध्यमा’ वैखरी इति चत्वारिंशतःपदानि । एकैवनादात्मिकावाक्भूलाभारा उदितासती ‘परा’ इत्युच्यते । सैव इदयामिगमिनी ‘परयन्ती’ इत्युच्यते । सैव बुद्धिं गता विवक्षा प्राप्ता ‘मध्यमा’ इत्युच्यते । अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता तत्त्वोष्ठादि व्यापारे एव इनिं गच्छति तदा ‘वैखरी’ इत्युच्यते । तथाच श्रुतिः । ‘गुहाचीयि निहितानेऽन्ति यन्ति ‘तुरीयं वाची मनुष्या घदन्ति’ इति । ( ऋग् वेदः )

है उसी प्रकार सोप आदि में पहिले जब अविन आदि की क्रिया से अभिघात होता है तो एक शब्द उत्पन्न होता है :—

जौर उससे बड़ा शब्द एक उत्पन्न होता है, दूसरे चंग में वह शब्द स्थित होता है, और उससे बड़ा एक शब्द उत्पन्न होता है; तो सरे चंगमें प्रथम शब्द नष्ट हो जाता है और दूसरा शब्द स्थित होता है और दूसरे से बड़ा तीसरा शब्द उत्पन्न होता है। इसी रीतिसे बड़े से बड़े शब्द तब तक उत्पन्न होते जाते हैं, कि जहाँ तक उस अभिघात की क्रिया होती है और यह भी समझनाकि यह शब्द का तरग जिस क्रमसे जिम २ पुरुष की कानतम पहुंचता है उसी क्रम से उन २ पुरुषों को प्रत्यक्ष होता है अर्थात् जिस स्थान पर शब्द उत्पन्न होता है उसस्थान के जो समीप हो उन्हें दूरवालेकी अपेक्षा पूर्व वह शब्द सुनाई देगा, और समीप वाले की अपेक्षा पीछे से दूर वाला उसे सुनेगा इस विचार से सिद्ध हुआ, कि पहिला शब्द दूसरे शब्द का कारण है, और दूसरा शब्द पहिले शब्द के नाशका कारण है, परन्तु सब से द्वितीय शब्द अपने समीप रहने वाले पहिले शब्द का नाश करता है, और वह पहिला (उपान्त्य) शब्द अन्तिम शब्द का नाश करता है। इसे 'मुन्दोप सुन्दन्याय' भी शास्त्रकार कथन करते हैं अर्थात् चुन्द और उपचुन्द दोनों भाँधे, दोनों ने एक दूसरे पर ऐसी तरखार चलाई, कि दोनों एक समय में हो मरण और सांस में भी पायः शब्द की उत्पत्ति में यही क्रम पाइत है। जब वायु पर प्रहार होता है तो वायु इस प्रहार को चुपचाप नहीं भहारता, किन्तु वह भी अपने पास पास के वायु पर उसी तरह प्रहार करता है और फिर वह वायु अपने पास के वायु पर यही पहुंचते पहुंचते वह प्रहार जो वायु पर हुआ वह बहुत दर

तक पक्षा जाता है। अन्तको यह प्रहार हमारे तुम्हारे कानों  
तक पहुँचता है यह प्रहार हमारे कानको पड़दे पर इतने बेगसे  
नहीं सागता कि हम नीचे गिरपड़े और इसी लिये हम इसको  
प्रहार नहीं कहते किन्तु यह कहते हैं कि हमारे कानों में शब्द  
आया है अर्थात् हम शब्द सुनते हैं। साईंस में शब्द को वायु में  
चलने की रीति। पहिले जब मील या दो मील पर कोई तोप  
चलाई जायतो यह न समझना चाहिये कि वही परमाणु तोप से  
तुम्हारे कानोंतक चले आते हैं। तोपको यासके परमाणु भएने  
पासके परमाणुओं को प्रहार करके ठहर जायगे, और जिन परमा-  
णुओं को प्रहार हुआ है वह भी अपने पासके परमाणुपर प्रहार  
पहुँचाकर ठहर जायगे और इसी प्रकार होता रहेगा यहां तक कि  
यह प्रहार तुम्हारे कानों तक पहुँचेगा ॥

जैसाकि कुछ लचकदार गोले खो दूनको भिन्न भिन्न छोरों  
से एक श्रेणि में इस प्रकार लटकाओ कि वह एक दूसरे से  
केवल स्पर्शमुक्त करें। अब पहिले गोले को उसी ओर में कुछ  
दूर पीछे हटाकर छोड़ दो कि दूसरे गोले को प्रहार करे। अब  
वहां होगा ? पहिला गोला दूसरे को प्रहार करके ठहर जायगा।  
दूसरा बहुत गोब तीसरे को प्रहार पहुँचा कर उसी तहर ठहर  
जायगा तीसरा भी इसी तरह करेगा, यहां तक कि यह प्रहार  
सब से पिछले गोले तक पहुँचेगा। इस के परे और कोई गोला  
नहीं इस लिये यह गति करेगा। अब पहिला गोला वायुके उन  
परमाणुओं के सहय है जो तोपके निरंतर पास हैं, और सब से  
पिछला गोला वायुके उन परमाणुओं के सहय है जो तुम्हारे  
कानके निरंतर पास हैं अब तुम जानगए हो जो प्रहार तोप के

पांसे थोयुपरे हुए था यह वहकोन के पास थाय तक किस प्रकार पहुँच गया, और इस बात की आवश्यकता नहीं कि एक ही परमाणु चल कर इतने दूरतक आवे ॥

### कदम्ब गोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते । १६६ ।

ठी०—किसी के मत में शब्द की उत्पत्ति कदम्ब गोलक न्याय से मानी है अर्थात् जैसे कदम्ब पुष्प के सर्व अवयवों में एक समय में ही कोरकों की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार शब्द में भी समझना चाहिये अर्थात् द्वितीय आदि शब्द न तो एक ही होता है और न दृश्य दिशाओं में व्याप्त ही होता है किंतु दश ही दिशाओं में ही होती है आदि शब्द दशही उत्पन्न होते हैं इस प्रकार में गौरव पड़ने से कहा है कि 'कस्यचिन्मते' भाव यह है कि अनन्त शब्दों की कल्पना करने में गौरव होता है अतः यह पत्त ठीक नहीं है ॥ १६६ ॥

### उत्पन्नः को विनाप्टः कइति वुच्छे रनित्यता ॥

ठीका—अब शब्द प्रतिज्ञात उत्पत्तिके समर्थन पूर्वक मीमांसकोंके मतका मूल कारण खुएङ्गन आप दिखलाते हैं 'उत्पन्न इति' कपटताल आदि के अभिघात से शब्दकी उत्पत्ति होने से उत्पन्न

१ अनश्वदश्यजज्जवायुरेवोत्पदते, न तु श्वद उत्पदते, अन्यथा प्रत्यभिज्ञानस्थीति इति मीमांसकानां श्वदयम् । 'प्रयत्नेन श्वद मुच्चारयतः पुं मोक्षाय न भिरुत्यतः, उरसि विस्तीर्णः, कष्ठेविष्वर्ति मूर्धन मात्यपराप्तं तोषगेविचरनानादिधानश्वदानभिश्च न लिति मीमांसकमिहास्तः ॥

'नानाविधान श्वदान निष्पादयति' इति तार्किकाः ॥

हुआ यह प्रतीति तथा उस के अनन्तर श्रीगृहींक' नष्ट हुआ ऐसी प्रतीति होने से सिह हुआ के शब्द (१)अनित्य है ॥

मोमासुकों के मत में शब्द नित्य माना है तथा द्रव्य माना है दोनों पक्षों में अर्थात् शब्द के नित्यत्व तथा शब्द, के द्रव्यत्वमें वे ये २ अनुमान प्रमाण दिखलाते हैं यथा—‘शब्दोनित्यो व्योम मात्र गुणत्वात्, व्योमपरिमाणवत्, अर्थ—शब्द नित्य है जिस मे केवल आकाश का ही गुण है’ आकाश मात्र के गुण आकाशके परम महत्व परिमाणकी न्याई । परन्तु इतना इस स्थान में प्रत्ययजानना कि यह अनुमान प्रभाकर मोमासकोंके मत से है जो कि शब्दकी द्रव्य नहीं मानता द्रव्य मानने वाले भट्ट के मतसे अनुमान प्रकार तो यह है कि जैसे—

शब्दोऽनित्यः, निःस्पर्शं द्रव्यत्वात् आत्मवत् । अर्थं शब्दनित्य है राश्यं रहित द्रव्य होनेसे आत्मा की न्याई । अब शब्दकी द्रव्यत्व की स्थिति में दो मामकों का अनुमान दिखाते हैं यथा—ओच द्रव्य प्राहस निरवयवनिद्रयत्वात्, मनोवत् । अर्थं योच इन्द्रिय द्रव्य का यह एक रहने वाला है जिससे यह निरवयव इन्द्रियहेमनको न्याई प्राप्त होता है ।

परन्तु नीयाधिक इसका खण्डन इस प्रकार से करते हैं । शब्दो न द्रव्य एकमात्रात्वितत्वात् । अर्थ—शब्द द्रव्यनहीं हो सकता वर्णीकि यह एक अधिकरण आकाश में ही रहता है और कोई भी द्रव्य एक में ही रहने वाला नहीं हृष्ट होता ।

---

(१) शब्दस्यानित्यत्वेप्रमाणमनुमानम् । तद्वच् ‘शब्दोऽनित्यः’ सा मान्यवत्त्वेमतिवहि रिन्द्रियजन्यसौकिकप्रत्यच्चिविव्यत्वात्, घटवत् (गौतम सूच हत्ती २ । २ । १) तथा च मूलम्—“धादिमत्वादेन्द्रिय कत्वात्कृतकवद्यपचाराच्च” इति ।” (गौ० २ । २ । १४) ॥

(ग०) शब्द(१)नित्यत्व वादी कथन करते हैं कि यह ही कारण है जो मैंने कालह की सुना या इत्यादि प्रत्यभिज्ञा से शब्द स्थायि पदार्थ(नित्य)सिद्ध होता है तो फिर अनित्यकथन अयुक्त हो। इसका समाधान मूलकार स्वर्ण "सोऽयंक" इत्यादि यश्यसे करते हैं॥

### सोऽयंकइतिवृच्छिस्तुसाजात्यमवलम्बते॥१६७॥

ठो०—शब्द सर्वथाही अनित्य है नित्य कदाचित् भी (२) नहीं हो सकता और जो आपने 'सोऽयंकः' प्रत्यभिज्ञा शब्द नित्यत्व में दिखलाए है उस में भी पूर्वकालीनकार साक्षरत्य भासता है अन्यथा 'सोऽयं चटः' वही यह घट है इस प्रत्यभिज्ञा में भी अभेद की ही तुल्य न्याय से प्रतीति की आवश्यकता होने से घट की भी नित्यता माननी पड़ेगी तात्पर्यं यह है कि पञ्च पर लिखा देखकर यदि कहा जाय, कि यह वही, कक्षार अक्षर है तो वहाँ उसे शब्द नहीं जानना चाहिये जिसमें कि शब्द का नेतृत्वान्दय में तो पहले कदापि नहीं होता किन्तु उसे शब्द के समरण कराने वाला स्थाही में वहाँ भुपा, पार्थिव पदार्थ जानना चाहिये। और यदि कहे कि यह वही पञ्चर मुना है; जो पहिले दिन सुनाया, तो यहाँ भी वही अक्षर नहीं है किन्तु पहिले दिन जो अक्षर मुनाया, उसमें जो जाति यो इस अक्षर में वही जातिहै; ॥ १६७ ॥

### तदेवोपध मित्यादो सजातीयेऽपि दर्शनात् ॥

तस्मादनित्या एवेति वर्णः सर्वेमतं हिनः॥१६८॥

ठो०—पूर्व पर्याप्ति प्रष्ठ करता है कि 'सोऽयं' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा में साक्षरत्य अर्थात्—तत्त्वातीयत्व तुझे जिस स्थल में मतीत भुपा है जिस से पूर्वान् समाधान तुम्हारा यथार्थं पतीत

हो। इसका उत्तर करते हैं 'तदेवीपथ मिति' "तदेवीपथ—चर्यात् यह वही औपध है" इत्यादि भृत्यों में सजातीय पदार्थों में भी प्र-स्थभिन्न देखने में आती है यह तात्पर्य है क्षेत्र कि किसी एक पृथग ने अपने रोग दूर करने के लिये औपध खाया, कई एक दिन बीत चुके तो उसे औपध खाने देख आर किसी ने पूछा, आप यथा खाते हैं यह सुनकर इस न उत्तर दिया, कि मैं वही औपध खाता हूँ जो उस दिन आप के सामने खाई थी, यह सुनकर उसने सोचा, कि वह औपध तो इसने मेर सामन ही उस दिन खानी थी, आज फिर वही औपध इस के पास कैसे पागई कि यह उसेहो खा रहा है। और मेरे साथ यह मनुष्य भृत भी कभी नहोवीला। अंत उस दिन जो औपध इसने खाया था, उसका सजातीय चर्यात् साथ का औपध है। इस श्रेत्रिय से ग्रहण में सजातीयकाओंधजानना चाहिये इस लिये सर्व हो वर्ण अनित्य हो हैं यह हमारा (नेयायि लोक) मत है ॥ ५८ ॥ इतिश्वम् ॥ नमाइस्तुपरथाय । नमःस्तुप्रदुर्भयः ॥

॥ इतिकार्तिकावली रहस्य प्रकाशे गुणनिरूपणम् ॥  
 श्री सनातनधर्मोपदेशक काश्यधीत दर्जनविद्य  
 चन्द्रपुर (चिनयोट) वास्तव्य गोस्वामिवर्य  
 पण्डित लक्ष्मणदत्त सूनु लवपुरीय विश्व  
 विद्यालय (ओरियन्टल कालेज) अ-  
 ध्यापक पं० गणेशदत्त शास्त्रि कृतो  
 रहस्य प्रकाश व्याख्या सहिता  
 कारिकावली समाप्ता ॥

साचेय पर भृत्याभिन्न दशरथात्मजपदपक्षजयोः प्रसूमा-  
 चत्वारिंशिवितेति ॥ यम् ॥

( $\psi_3$ ),

गमः चो रामचन्द्र पदारविन्दयोः ।

॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥

## अथ कारिकावली परिशिष्टम् ॥

(१) समवाय संबन्धावचिक्षनं सर्योगत्वावचिक्षनं सर्योगनि-  
ष्ठकार्यता निष्पिता था तादात्म्बद्धं संबन्धावचिक्षनं, दूषप्रत्याव-  
चिक्षनंद्रव्यनिष्ठा समझायिकारणता सा किञ्चिचहर्मावचिक्षनं  
कारणतात्पत् समवाय संबन्धावचिक्षनं दण्डत्वावचिक्षनं दण्ड  
मिष्ठ कारणतापत्, इति द्रव्यत्वरूप धर्मसिद्धिः वतः सचजाति  
स्याधिवौ साधशाश्वातिष्ठप एव, तत एकोऽनको था साधशादेवै-  
कः तता द्रव्यत्वस्यातिः नित्यत्वे सति, एकत्वच सत्यनेका सुमधु-  
येतत्वादृघटत्ववत् इति द्रव्यत्व जाति सिद्धिः ॥

(२) समवाय संबन्धावच्छन्न गम्भट्टवायप्रिक्षन्न गम्भ नि  
ष्ठकार्यतानिष्ठपिता तादात्म्य सबन्धावच्छन्न पूर्णित्योवच्छ  
न्न पूर्णिते निष्ठाया समवायिकारणतेत्यादि पूर्खवत् ॥ इति पूर्णि  
ष्ठीत्वजाति सिद्धिः ।

(१) समवाय संबन्धावस्थित्वे जन्मजस्त्वावस्थित्वे लक्ष्य-  
जस्तनिष्ठ कार्यता निरुपिता तादात्म्य संबन्धावस्थित्वे लक्ष-  
स्त्वावस्थित्वे जस्तनिष्ठा, प्राप्तमवायिकारणता सा किञ्चित्तदर्था-  
वस्थित्वनेत्यादि पूर्वतः तेन लक्ष परमाणा वयि जस्तत्वाति विदिः  
पृति जस्तत्व जाति विदिः ।

(४) समवाय संबन्धावच्छिद्गम लक्ष्यतेजस्तवावच्छिद्गम लक्ष्य  
नेत्रोभिष्ठवार्थता निष्पित तादास्म्य संबन्धावच्छिद्गम तेजस्त्वा-

परिश्रम तेजोनिष्ठा, या समवायिकारणतेस्यादि पूर्ववत्, तत्त्वान्तः परमाणावपि ते जरुरत्वं सिद्धिः, इति ते जस्त्वं जाति सिद्धिः ।

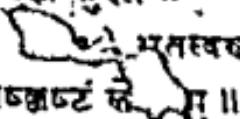
एव मध्यस्वयम् लूप्यम् ।

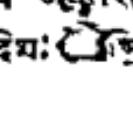
## परिश्रिष्टे प्राञ्जलि विश्वारद परीक्षोप- योगि प्रणाः ।

(१) आकाशात्मानः कोदण्ड साधम्यं भाजइति सम्बन्धं इकुटी क्रियताम् ॥

(२) वायुसाक्षात्कृतिर्भवतिनवा, पथमेकर्थं, चरमेकर्थं तत्त्वसिद्धिः ।

(३) असमवायिकारणस्वरूपं सहये संगमनीयं केन पुनः कर्मयेन तन्तुष्टुपे पटरूपनिष्ठपिताऽसमवायिकारणतेतियायार्थ्येन विग्रही कुरुत ॥

 भृत्यस्वरूपमतिथ्याप्त्यादि दोषप्रदर्शनं पूर्वस्कारण निष्ठाष्टं क्लैर ॥

(४) सामान्ये समवाये च ज्यूतिरतिनवा मासित एतकुतो न, तदुत्तिष्ठमर्त्यं च कायं व्यपदेशः  चतुर्चतुर्लक्षणं कातविष्ठद्वच स इति ॥

(५) पारिमाणडस्य भिन्नानां कारणत्वमुदाहृत मित्यादि कारिकारहस्यं किम् । पारिमाणडस्येन कि गृद्धते तत्त्वारणत्वे च कि कुच दूषर्थं चांगति ।

(६) वायवोय घरीरं वव कायम्यं तत्त्वायनादि व्यवहार ।

(७) रूपत्वं साक्षात्कारे करुदगत्वादि प्रत्यच्चे च को व्यापार इति सोपपत्तिकं निष्ठपयत ।

(८) अभाव प्रस्तुत्यस्थंकुचरसम्भवि कुचचनेति सविश्वरं सयुहिकं प्रकारित्यतां ॥

(९) सामान्यस्तत्त्वयोगस्तत्त्वयो चकाहरणेपदर्थनीये किञ्चामयीः साकर्त्त्वं विषट्का मित्यपि विशदो कुरुत ।

(१०) शरीरेन्द्रिय सनसामात्मत्व व्यष्टिति पुरस्सरं तद्यति रित तथाऽत्म सिद्धिर्दीर्घनीया ।

(११) इन्द्रिय स्त्रयां किं चक्रतत्त्वय पदकदम्बर्य प्रयोजन समवायः ।

(१२) योगचाराद्य बोद्धैर्जीव्यनस्युपगमे किभावतित द्रष्टव्यं कथा वाचो युक्तयापर्यहारि तार्किकोरचतत्व किमुल मिति रपटी कुहत ।

(१३) पूर्वं पचीय द्याप्तिहाने किं बोजम् । कथच्चोदीद्य द्याप्तित स्त्रृपेष्ठ निष्पत्तिः ।

(१४) विद्व भृत्यतिपचयीः किमवच्छेदकम् । काषसत्प्राप्तं च चत्येव द्यृत्यति विभवारथनामधेयान्तरम् ।

(१५) पद्धतास्तत्त्वे सिद्धिप्रेन कोइर्ध्वैर्भिर्मिति । कथच विशेषयं कुतस्त्वेतिमन्त्रयगुप्तान्तित ।

(१६) परामर्थं रक्षयं किम् । कतिविधश्च परामर्थः ।

(१७) कालात्यया पदिष्टस्य कुच प्रतिवन्धशश्व वायहुच किमस्योदाहरणम् । करच संज्ञायां विषयः ॥

(१८) उपमानस्य प्रमाणान्तरात्वेकोविपत्तिपद्यते करचनेति ।

(१९) उपमान उत्त्वं किम् । करचेह्यापारः ।

(२०) पदस्वरूपं किम् । कति विधच्छपदम् ।

(२१) मैयाविदां पापयात्मय कुचगतिं रपोकुर्वतेत्तत्त्व

विप्रतिपद्यन्त इत्यचतुर्थपद्मसाधकवाधकयुज्ञयुद्धयोपन्यासो  
विशेषः ।

स्यायद्या करणयोः शाद्वदुहीकीद्वयीविप्रतिपत्तिः । कथम्चे-  
इताकिंकविजयः ।

(२४) सच्चणा स्वरूपं वीजच्छ्वले ख्यम् ।

(२५) कारिकावलया कुच २ नामनिर्देशपूर्वक नैयायिकमतं  
पादयिं कारिकावलीयन्यश्रव्यकरयमन्तस्माश्रित्याद्यरचिपन्यक्ता ।

(२६) तक्षस्थ कि स्वरूपम् । किञ्चब्लह्यम् । करचोपयोगः

(२७) उपाधेः किं सच्चणं तच्च सच्चये रंगमनीयम् ।

(२८) धर्मस्योऽप्तव कारण कलापः स्त्रय इतु समूहश्चलेख्यः ।

(२९) प्रहृष्ट्युपत्तिकमो निरुपणोदयः ।

(३०) न्याये गृह्णदो गित्योनवा, अन्ते का युक्तिः करचतन्नि-  
र्यतांवते ।

(३१) नैयायिकामी मते हथयुखे पाकः, वैगेपिकाशान्तुन्ये  
यर एव इत्यनयोः पद्मयोः का उपपत्तयः ।

(३२) इप इवोकारे का युक्तिः कुतरच रसी न सथा ।

(३३) इवरण्यवेदोरचित इत्यचकः प्रवलापतकः ।

(३४) गवर्णलाभार्थं सुमेह शृङ् गुने प्रहृतिः कर्त्तव्य न जायते ।

(३५) क्षिण्ड कति विध प्रत्येक सच्चणोदादरणस्यासाविष्कर-  
णीयम् ।

(३६) चतुर्दिव्यतिरित तया मनः सिद्धिः प्रदर्श्या ।

(३७) अन्योन्यभावतः शृद्धस्ववस्थको विशेषः ।

(३८) अहृष्टस्य सिद्धिः कथम् ।

(३९) प्रभाव मेदाः के तेयरं प्रत्येकं सच्चणोदादरणानि स्ते-  
लमीयानि ।

( ए५ )

(४०) विशेष पदार्थाङ्गीकारे को इतुस्तच जातिवर्ततेनवा  
अन्ते कुतोन ।

(४१) अर्यापत्ते पृथक् प्रामाण्यंकैः स्त्रीष्ठां नैयायिकैश्च तत्  
कायं छुएडतम् ।

(४२) पृथिव्यागन्धवह्वस्त्रियं विहायगन्धसमानाधिकरण  
द्रष्टव्य द्याप्यजातिमहत्त्वस्त्रियं करणे कोहेतुः ॥

(४३) सधातारम्भपरिणामविवर्तवादेषुकतमोऽयान् कर्त्त  
स्त्रियस्तमतः कोपाच्चेहरे ॥

(४४) परमाणुनित्यत्वं साधनीयम् ।

(४५) रसनेन्द्रिय जलीयत्वं साधनीयम् ॥

(४६) जलेमधुतोरसः प्रस्त्रियादितत्कायं घटतेजस्त्रीरसेऽ  
स्त्रित्वोलघ्वेरिह समाधेयम् ॥

(४७) के प्रादेगिकः गुणाः । केच अतीन्द्रियाः ।

(४८) द्रव्याभ्यचेत्वचीयोगो मनसात्त्वान कारणम् ।  
चक्रप्राप्तस्तवद रूप द्रव्यादेषुपलम्भकम् । चक्रप्राप्तस्तवद  
चक्रादिका अनेकधा । १ । निहत्ता सार्वपद्यं द्यात् ॥ ताम् ॥

(४९) अकालं गुण त्वा, गुणाः दर्शनीयाः ।

(५०) \*एकेकेन्द्रियस्त्रीम् श्राः के हीन्द्रिय प्राद्यारचके ।



## कारिकावली परिशिष्टम् ॥

अये दर्शनभेदेन पदार्थः नानाविधाः तथाहि

( १ ) चिन्मात्रं त्रह्मैवैकं तत्त्वम् इति मायावादिनो  
वेदान्तिन आहुः ॥

( २ ) चिदचिदरबर भेदेन चय, इति रामानुजीयाः ।

( ३ ) स्वतन्त्र परतन्त्र भेदेन ही पदार्थी, इतिमाध्याः ।

( ४ ) पूर्वोक्त कारिकावलीस्थाः सर्वते वैयेषिकाः ।

( ५ ) पूर्वोक्त घोडपेति गोतमीयाः ।

( ६ ) मूल प्रकृति; बुद्धिः अहम्दारः, पञ्चतन्मात्राणि, एका-  
दशेन्द्रियाणि, पुरुषरचेतिपञ्चविगतिरिति साक्षात् ।

( ७ ) सांख्यस्याईक्तररचेतिपञ्चविंशतिरिति पातञ्जलाः ।

दृष्ट्यगुणकर्म सामाध्यसंख्या समवाय साद्यशलायः,  
पृष्ठो पदार्थी इति प्रभाकरमोमासकाः ॥

( ८ ) जलतेजो वायव इति चार्चकाः ।

( ९ ) शून्यमिति बोहविषेदः

( १० ) जोको अद्य प्रकृतिरच्च, गुमिदयानन्दाः ।



## अथ दर्शनैक्यम् ।

सर्वेषां भेद दर्शनामां जीवात्मपरमात्मभेदावगतावेद  
त्वात्पारम्पर्येष्टात्पर्यमितितु वयन्निरिच्छनुमः तथाहि—के

अत्यपद्युव्यापरं मिति इति जातु विदेषान् तरस्य विद्यता गच्छ  
 सुपासनसयाराचि. समजनित चैव पितृवाभीतु जामः । ये च प्रहृति  
 सेवन्यतम्, शाष्टमाहरत् अपरोजलानयनेष्वग्नः इतरो दनिद्वारा एव  
 क्षयत्, अन्धोग धूमद्यन्मपादनाय प्रहृतः,, एको व्यन्नलननिर्मिति  
 सहपरोभृत्, अद्विष्टमार्जन्याभूमितयोधनकर्मणि प्रस्तुति  
 इदानीमि हिदिचाट्यैतान्वासयतपाक निवृत्यात्मकात्यक्रियावेल  
 आरपेऽविसमस्तानाम् त्रिविष्टमेदनाच त्रिचतुर्संशीतिसेवः । एव  
 मेव यड्डर्यनक्षन् महायेष ऽपिदर्शनभद्रेऽविनोदेयमेदभाजद्विष्ट  
 नवयम् ॥

तद्यथात्पदार्थ ( जीव ) सयोधनं साद्यकात्य सुख्यन्तवमेद  
 ज्ञानम् । एवत्पदार्थ ( इत्यवस्थाय ) सगोधनं न्याय लक्ष्यम्  
 कर्तव्यारा अन्त करण्युद्दिक्षितमोमासायाः । यद्वाज् जीव व्याप्तो  
 देवघमितिवेदान्तस्यति तदिदचरमकलमितिमायः ॥

योग वेगपि क्योन्तु साद्यान्यायाभिन्नतया  
 मिधानम् वित्तेजापयमव वा योगफलतदपिचार । युक्तत इति  
 नाधिकं प्रतन्यते ॥

अद्यवा अधिकारि एव दयेन एव यद्वनिरूपणं वस्तुत ज्ञाम  
 कोधनेतात्पर्यान्तहि प्रयमतपत्र समस्ताना बुद्धावमेदप्रस्फुरति, इति  
 यद्यान तावत्प्राच्च वरोद्धायेऽपत्वमनासाद्येव यस्त्रिवरोद्धण दित्पुर्ज ।  
 त्रिविदननुमत्त कर्त्तव्यद्वाष्टचरोनामेत्यलमनव्येनविद्वित्वति ।

